* श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः *

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेन कथासु यः

भागवत-पत्रिका

नोत्पादयेद् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्।

अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति ॥

सर्वोत्कृष्ट धर्म है वह जो आत्मा को आनन्द प्रदायक ।
भक्ति अधोक्षज की अहैतुकी विघ्नशून्य अति मंगलदायक ॥

सब धर्मों का श्रेष्ठ रीति से पालन करते जीव निरन्तर ।
किन्तु हरि-कथा-प्रीति न हो, श्रम व्यर्थ सभी, केवल बंधनकर ॥

वर्ष ७ | गौराब्द ४७६, मास—मधुसूदन २४, वार—संकर्षण
सोमवार, ३१ वैशाख, सम्वत् २०१८, १४ मई १९६२ | संख्या १२

अथ नवनीतप्रियाष्टकम्

नवबलाहकतुल्यतनुं शुभं, अधरवेणुधरं तडिदम्बरम् ।
तनुरुचा शतमन्मथमन्मथं, पटुतरं नवनीतप्रियं भजे ॥१॥

शुचिशिखण्ड सुशोभितशेखरं, विविध पुष्प सुसज्जितविग्रहम् ।
सुरभिपांसुललाटविराजितं, पटुतरं नवनीतप्रियं भजे ॥२॥

तरणिजातट कुञ्जविहारिणं, भुजगकालियमानविदारिणम् ।
शिवविरंचिमहेन्द्रनुतं परं, पटुतरं नवनीतप्रियं भजे ॥३॥

अघ बकीयक दैत्य विनाशकं, वनविरंचि विमोहविमोचकम् ।
नमुचिसूदन दर्पविदारकं, पटुतरं नवनीतप्रियं भजे ॥४॥

कमल कोमल चंचललोचनं, स्मितमुखं चलकांचनकुण्डलम् ।
कुटिलकुन्तलमानतकन्धरं, पटुतरं नवनीतप्रियं भजे ॥५॥

जननमृत्युजराभय भञ्जनं, प्रणतकाम महाहरिचन्दनम् ।
व्यथहरं भुविसात्वतनन्दनं, पटुतरं नवनीतप्रियं भजे ॥६॥

व्रजवधूविटमव्रजसंगिनं, धृतकराब्जनगं व्रजरक्षणम् ।
अवनिमण्डल मंगलमंगलं, पटुतरं नवनीतप्रियं भजे ॥७॥

अजमनादिमनन्तमनञ्जनं, धरणिभारहरं खलगञ्जनम् ।
स्थितिलयोदय कारणकारणं, पटुतरं नवनीतप्रियं भजे ॥८॥

शुभमिदं कलिकल्मषखण्डनं, पठतियोऽवहितेनहृदाष्टकम् ।
पतति ना नपुनर्भवसागरे, मुदमसौ लभते च रमापतेः ॥९॥

अनुवाद—

नवीन "वर्षाकालीन" मेघके समान सुन्दर शरीर वाले, स्वाधरोंपर मुरलीको धारण किये हुये, विद्युत्प्रभा संनिभ पीताम्बर पहने हुये इस प्रकार अपनी परम मनोहर देह कान्तिसे सैकड़ों मन्मथ (कामदेव) के मनका भी मथन करनेवाले परम निपुण नवनीत प्रिय भगवान् श्रीकृष्णको मैं भजता हूँ ॥१॥

जो पवित्र मयूरपिच्छके मुकुटकी शोभासे युक्त हैं, विविध प्रकारके सुमनोंसे शरीरको सजाये हुये हैं, तथा जिनके भाल पर गोधूलि सुशोभित हो रही है ऐसे परम कुशल नवनीत प्रियको मैं भजता हूँ ॥२॥

सूर्य-नन्दिनी यमुनाके कूलवर्ती निकुंजोंमें विहार करने वाले, कालीनागके अभिमानका चूर्ण करने वाले, शिव ब्रह्मा इन्द्रादि देवोंसे अभिवन्दित परमोत्कृष्ट परम चतुर भगवान् नवनीत प्रियका मैं भजन करता हूँ ॥३॥

जो अघासुर, बकासुर, बकी (पूतना) प्रभृति दैत्यों के विनाशक हैं, वृन्दावनमें ब्रह्माके व्यामोहका विमोचन करने वाले हैं और नमुचिसूदन (इन्द्र) के मदका दमन करने वाले हैं ऐसे परम निपुण नवनीत प्रिय श्रीकृष्णको मैं भजता हूँ ॥४॥

जिनके नेत्र कोमल कमलके सदृश विशाल एवं चञ्चल हैं, मन्द हास्यसे युक्त मुख है, कानोंमें चांचल्य युक्त स्वर्ण कुण्डल शोभा दे रहे हैं, कुटिल कुन्तलसे घुंघराले बाल अलग ही अपनी छटा दिखला रहे हैं, ऐसे ग्रीवाको झुकाये हुये परम चतुर नवनीत प्रिय श्रीनन्दनन्दनका मैं भजन करता हूँ ॥५॥

जो जन्म-मरण एवं जराके भयको भञ्जन करने वाले हैं, प्रणतजनोंकी मनोरथ-पूर्ति हेतु पूर्ण कल्पवृक्ष हैं, त्रिविध पाप-तापको हरण करनेवाले, पृथ्वी पर यदुवंशमें अवतरित होकर यदुनन्दन कहलानेवाले हैं, ऐसे परम निपुण नवनीत प्रिय श्रीनन्दनन्दनका मैं भजन करता हूँ ॥६॥

जो व्रजाङ्गनाओंके परमप्रेमी हैं, बड़े भ्राता बलरामजी जिनके सङ्गी हैं, जिन्होंने अपने करकमलों पर गिरिराज (गोवर्द्धन) को धारण करके भी व्रजकी रक्षा की है, जो पृथ्वी मंडलके समस्त मङ्गलोंके भी मङ्गल करने वाले हैं, ऐसे परमदक्ष नवनीतके प्यारे श्रीनन्दनन्दनका मैं भजन करता हूँ ॥७॥

जो अजन्मा हैं, आदिसे रहित हैं, अनन्त हैं, किसी भी प्रकारके वर्ण सादृश्यसे परे हैं, पृथ्वीके बढ़े हुए भारका हरण करनेवाले हैं, जो दुष्टोंका दमन करनेवाले हैं तथा जो जगतकी सृष्टि, स्थिति एवं पालनके कारणके भी कारण हैं अर्थात् परम कारण हैं, ऐसे परम पटु नवनीतप्रियको मैं भजता हूँ ॥८॥

कलियुगके कलुषका खण्डन करनेवाले परम पवित्र शुभदायक इस नवनीतप्रियाष्टकका सावधान चित्त होकर जो हृदयसे पाठ करेगा, वह मनुष्य फिर कभी भी भवसमुद्रमें गोता नहीं लगावेगा और भगवान् नन्दनन्दनका प्रियभाजन बनेगा ॥९॥

—पं० राधाकृष्ण शास्त्री, साहित्याचार्य

वैष्णवके प्रति जातिबुद्धि

श्रीव्यास देवने कहा है—

"अग्नि-सूर्य-ब्राह्मणेभ्यस्तेजीयान वैष्णवः सदा ।"

कुछ लोग उपर्युक्त कथनका कदर्थ करके कुतर्क द्वारा नाना प्रकारके मतवादोंकी अवतारणा करते हैं। उनकी अज्ञता ही उन भ्रान्तिपूर्ण मतवादोंकी सृष्टिका मूल कारण है। ब्राह्मण, योगी और वैष्णव—ये अद्वयज्ञानके सेवक हैं—ऐसा तत्त्वविद् पुरुष कहते हैं। अतएव ब्राह्मण और हठयोगी या राजयोगीकी अपेक्षा वैष्णवजन अधिक तेजस्वी होते हैं—ऐसा सुनकर बहुतेरे व्यक्ति उपर्युक्त दोनों कथनोंका सामंजस्य नहीं कर पाते। श्रीजीव गोस्वामीने षट्सन्दर्भमें बतलाया है कि ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान—ये एक अद्वयवस्तु होने पर भी 'ब्रह्म'-शब्दकी अज्ञरूढ़िवृत्तिमें भगवत्ताके साथ वैशिष्ट्य रहनेके कारण 'ब्रह्म'-शब्दके स्थान पर 'भगवत्'-शब्दका प्रयोग करने पर कोई-कोई वितर्क उपस्थित करते हैं। परन्तु जहाँ ऐसा वितर्क उपस्थित होता है, वहाँ अद्वय-ज्ञानका अभाव ही समझना चाहिए। जड़ीय कुतर्क द्वारा इस अद्वय-तत्त्वको समझा नहीं जा सकता है। चिन्मय तत्त्व ज्ञानके उदय होने पर ही उनके वैशिष्ट्यकी उपलब्धि की जा सकती है। उस समय यह जाना जा सकता है कि एक अद्वयज्ञान तत्त्वके अन्तर्गत ही भगवान परतत्त्व हैं, ब्रह्म उनका गुण है, परमात्मा उनके अंश हैं।

श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

"मुक्तिर्हित्वान्यथा-रूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः ।"

स्वरूपसे इतर मायिक स्थूल एवं सूक्ष्म आवरण-रूप अन्यथा रूपका परित्याग करके स्वरूपमें स्थित होनेको ही मुक्ति कहते हैं। दार्शनिक इन्द्रियज-ज्ञानके सहारे अप्राकृत तत्त्वको—विष्णु और वैष्णवोंको जान नहीं सकते हैं। अप्रकृत श्रौत शब्दके द्वारा कृष्ण और कृष्णभक्तोंकी कृपासे ही जीव अपने स्वरूपका दर्शन कर सकता है और तभी वह अप्राकृत तत्त्वकी उपलब्धि कर सकता है।

जो लोग शरीर और मनको आत्माके साथ अभिन्न मानते हैं, उनको अप्रकृत दिव्यज्ञान होनेकी संभावना नहीं है। दिव्यज्ञानका तात्पर्य स्वरूप-ज्ञानसे है। स्वरूप ज्ञानके अभावमें बहिर्मुख व्यक्ति परमपूज्य वैष्णवोंको मायिक जातिके अन्तर्गत मानते हैं। वे परम वैष्णव श्रीभट्ट ठाकुरको शूद्रसे भी नीच श्रेणीका, श्रीहरिदास ठाकुरको चारों वर्णोंसे बहिर्भूत श्रेणीका और श्रीनित्यानन्द प्रभुको मैथिल विप्र मात्र समझते हैं। परन्तु वे ऐसा मान कर उनके चरणोंमें अपराध करते हैं। वास्तवमें पाप और अपराध एक बात नहीं हैं। अपराध पापकी अपेक्षा अत्यन्त अधिक भयङ्कर होता है। नश्वर जागतिक नीतियोंका उल्लङ्घन करने पर पाप होता है और नित्य पारमार्थिक नीतियोंकी अवहेलना करनेसे अपराध होता है। इस अपराधसे छुटकारा पानेका एकमात्र उपाय है—वैष्णव सेवा; वैष्णव सेवासे नामापराध और वैष्णवापराध—दोनोंसे ही छुटकारा मिल जाता है। परन्तु समस्या तो यह है कि वैष्णवापराधी या नामापराधीकी चित्तवृत्ति ही ऐसी हो जाती है कि वह उनको वैष्णव सेवामें लगने नहीं देती है; साथ ही वैष्णवके प्रति जातिबुद्धि पैदा कर देती है। इसलिये विशेषज्ञ लोग ऐसा कहते हैं कि आध्यात्मिक व्यक्ति वैष्णवोंको भी अपना जैसा अवैष्णव समझते हैं। फलस्वरूप उनको प्रायश्चित करना कर्त्तव्य है। यदि वे ऐसा नहीं करते तो शास्त्रीय स्मृतिके अनुसार उनको नरकमें वास करना अवश्यंभावी होता है।

वास्तवमें वैष्णव ही किसी व्यक्तिके दैववर्णाश्रम-विचारका योग्य परीक्षक है। क्योंकि वे भ्रम, प्रमाद, करणापाटव और विप्रलिप्साके दास नहीं होते। उन्होंने अप्राकृत श्रौतवाणीका श्रवण किया है। जिन लोगोंने अप्राकृत श्रौतवाणीका श्रवण नहीं किया है, वे बड़े ही मन्दभागी और शोचनीय हैं।

मातुरग्रेऽधिजननं द्वितीयं मौञ्जिबन्धने ।
तृतीयं यज्ञदीक्षायां द्विजस्य श्रुतिचोदनात् ॥

—इस श्रुति वचनका उल्लंघन करके कोई भी शौक्र आदि तीनों जन्मोंका विचार कथमपि समझ नहीं सकता है। वे लोग कपटता करके वैष्णवोंका अपमान करनेके लिये तैयार रहते हैं तथा शास्त्रीय-विचारोंका श्रवण करनेके लिए प्रस्तुत नहीं होते। वे अभिमानपूर्वक दैववर्णाश्रम या सच्छास्त्रोंको स्वीकार नहीं करते।

वैष्णव लोग घर पर रह कर भी परमार्थके साधनमें तत्पर होते हैं। अदैव वर्णाश्रमीका भोगमय विचार समझ न सकने पर भी महाभारत और श्रीमद्भागवत उन लोगोंको धीरे-धीरे समझा देंगे। सात्त्वत पंचरात्र और पुराण आदि स्मृतिशास्त्र इस जन्ममें ही एक वर्णसे दूसरे वर्णमें, और एक आश्रमसे दूसरे आश्रममें प्रवेशकी बात स्वीकार करते हैं। अद्दैव वर्णाश्रमी नग्न मातृक न्यायका अवलम्बन करके जो बाल-चापल्य प्रदर्शन करते हैं, वह उनकी अज्ञानतामूलक हृदयदुर्बलता है। शास्त्रमें वैष्णवके प्रति जातिबुद्धि रखनेका निषेध किया गया है—

अर्च्ये विष्णौ शिलाधीर्गुरुषु नरमतिर्वैष्णवे जातिबुद्धि
र्विष्णोर्वा वैष्णवानां कलिमलमथने पादतीर्थेऽम्बुबुद्धिः ।
श्रीविष्णोर्नाम्नि मंत्रे सकल कलुषहे शब्द सामान्य बुद्धि-
र्विष्णौ सर्वेश्वरेशे तदितरसमधीर्यस्यवा नारकी सः ॥
(पद्मपुराण)

अर्थात, जो व्यक्ति पूजाके श्रीविग्रहमें शिलाबुद्धि, वैष्णव-गुरुमें मरणशील मानवबुद्धि, वैष्णवमें जाति-बुद्धि, श्रीविष्णु एवं वैष्णवोंके पादोदकमें जलबुद्धि, समस्त पापोंका विनाश करनेवाले श्रीविष्णुके नाम-मंत्रमें शब्दसामान्य बुद्धि एवं सर्वेश्वरेश्वर विष्णुको दूसरे देवताओंके साथ समबुद्धि रखता है, वह नरक-गामी होता है।

—ॐविष्णुपाद श्रीभक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर

दशमूल-तत्त्व

श्रीचैतन्य महाप्रभुजीने वेद और वेदानुग शास्त्रों-को ही प्रमाण माना है। वेद जो कुछ कहते हैं—वही सत्य है। वेद शास्त्रके अनुगत होकर चलना ही साधु पुरुषोंका कर्त्तव्य है। शास्त्रोंकी शिक्षाओंको उन्होंने तीन विभागोंमें विभक्त किया है—सम्बन्ध-शिक्षा, अभिधेय-शिक्षा और प्रयोजन-शिक्षा। इन वेद-शास्त्रोंने कहीं गौणवृत्तिका अवलम्बन करके, कहीं मुख्यवृत्तिका अवलम्बन करके, कहीं अन्वयभावसे और कहीं व्यतिरेक भावसे एकमात्र श्रीकृष्णको ही प्रकाश करनेकी प्रतिज्ञा की है। अतएव वेदशास्त्रका सम्बन्ध विचार करनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि वेद आदि शास्त्रोंके सभी मंत्रोंके उद्देश्य एकमात्र श्रीकृष्ण ही हैं। वेद शास्त्रोंके अभिधेयका विचार करनेसे इसी निष्कर्ष पर पहुँचा जाता है कि कृष्णभक्ति ही एकमात्र अभिधेय है। प्रयोजनका विचार करने पर कृष्ण-प्रेमधन ही एकमात्र चरम-प्रयोजन दिखलायी

पड़ता है। हम सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजन तत्त्व-का विशद रूपसे विवेचन करनेके लिये श्रीमन्महाप्रभुने जिन दस सिद्धान्तोंकी शिक्षा दी है, उनका पहले एक श्लोकमें विचार दिखलाकर क्रमशः उनका अलग-अलग विस्तारित रूपमें वर्णन करेंगे। सिद्धान्त श्लोक इस प्रकार है—

आम्नायः प्राह तत्त्वं हरिमिह परमं सर्वशक्ति रसाब्धि
तद्भिन्नांशांश्च जीवान् प्रकृति-कवलितान् तद्विमुक्तांश्च भावात्।
भेदाभेद-प्रकाशं सकलमपि हरेः साधनं शुद्धभक्ति
साध्यं तत्प्रीतिमेवेत्युपदिशति जनान् गौरचन्द्रः स्वयं सः ॥

स्वयं श्रीचैतन्य महाप्रभुजीने इन दस तत्त्वोंका उपदेश दिया है—

(१) आम्नाय-वाक्य ही प्रधान प्रमाण है। इससे निम्नलिखित नौ सिद्धान्तोंका प्रतिपादन होता है।
(२) कृष्ण-स्वरूप हरि ही जगत्में परम तत्त्व हैं।
(३) वे सर्व शक्तिमान हैं।
(४) वे अखिल रसामृतसमुद्र हैं।
(५) जीव-समूह हरिके विभिन्नांश तत्त्व हैं।
(६) तटस्थ गठनवशतः जीव-समूह बद्ध-दशामें प्रकृतिके बन्धनमें पड़े हैं।
(७) तटस्थ गठनवशतः जीव-समूह मुक्तदशामें प्रकृतिसे मुक्त हैं।
(८) जीव-जड़ात्मक समस्त विश्वका ही श्रीहरिसे युगपत् भेद और अभेद है।
(९) शुद्ध भक्ति ही जीवका साधन है।
(१०) शुद्ध कृष्ण-प्रेम ही जीवका चरम साध्य है।

पहले सिद्धान्तमें प्रमाण-तत्त्वका विचार है। दूसरे, तीसरे, चौथे, पाँचवे, छठे, सातवें और आठवें सिद्धान्तोंमें वेद-शास्त्रोंमें वर्णित सम्बन्ध-तत्त्वका विवेचन है। नव सिद्धान्तमें अभिधेय-तत्त्वका विचार है तथा दसवेंमें प्रयोजन-तत्त्वका विचार है। इन दसों सिद्धान्तोंको दो भागोंमें विभक्त किया जा सकता है—प्रमाण-विचार और प्रमेय-विचार। पहला सिद्धान्त प्रमाण-विचारके अन्तर्गत है, तथा शेष नौ सिद्धान्त प्रमेयकी कोटिमें हैं। दूसरेसे आठवें तकके सात सिद्धान्तोंमें सम्बन्ध-तत्त्वका विचार है, जिसमें दूसरा, तीसरा और चौथा सिद्धान्त श्रीकृष्ण-तत्त्वको परिस्फुट करते हैं। पांचवाँ, छठा तथा सातवाँ सिद्धान्त जीव-तत्त्वके सम्बन्धमें हैं। आठवें सिद्धान्तमें दोनोंके सम्बन्धका विचार है। भेदाभेद-शब्दसे अचिन्त्य-भेदाभेदको समझना चाहिये। आगे इनका पृथक्-पृथक् विवेचन किया जायगा।

द्वितीय परिच्छेद

आम्नाय-वाक्य ही मूल प्रमाण है

(१) आम्नाय-वाक्य किसे कहते हैं? इस प्रश्नका उत्तर इस निम्नलिखित कारिकामें दिया गया है—

आम्नायः श्रुतयः साक्षाद्ब्रह्मविद्येति विश्रुताः।
गुरु परम्पराप्राप्ताः विश्वकर्त्तुर्हि ब्रह्मणः ॥

विश्वकर्त्ता ब्रह्मासे गुरु परम्परा-प्राप्त ब्रह्म-विद्या नामक श्रुतियोंको आम्नाय कहते हैं। जैसे—

ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्या प्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम् ॥
(मुण्डक १।१।१ और १।२।१३)

जगत्की सृष्टि करने वाले भुवनपालक आदिदेव ब्रह्मा अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वाको समस्त विद्याओंकी प्रतिष्ठा रूप ब्रह्म विद्याका उपदेश किया था। जिस

ब्रह्म-विद्या द्वारा सत्यस्वरूप अक्षर पुरुषको जाना जाता है, उसी ब्रह्म-विद्याका तत्त्वके साथ उपदेश दिया था—

अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि सर्वाणि निःश्वसितानि।
(बृहदारण्यक २।४।१०)

महापुरुष ईश्वरके निःश्वाससे चारों वेद, इतिहास, पुराण, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र और अनुव्याख्या—यह सब कुछ निकला हुआ है । इतिहास शब्दसे रामायण और महाभारत आदिका बोध होता है। पुराण-शब्दसे श्रीमद्भागवत (सर्वश्रेष्ठ पुराण) आदि अठारह महापुराणों और अठारह उप पुराणोंका बोध होता है । उपनिषद्से—ईश, केन, कठ, प्रश्न आदि ग्यारह उपनिषद्का बोध होता है । श्लोक-शब्दका तात्पर्य ऋषियों द्वारा रचित अनुष्टुप आदि छन्द-ग्रन्थोंसे है । सूत्र-शब्दका तात्पर्य प्रधान-प्रधान तत्त्वाचार्यों द्वारा रचित वेदार्थ-सूत्रोंसे है । अनुव्याख्या शब्दसे आचार्यों द्वारा सूत्र-ग्रन्थोंके ऊपर रचित भाष्य-ग्रन्थोंका बोध होता है । ये सब आम्नाय-शब्दके अन्तर्गत माने जाते हैं । आम्नाय-शब्दका मुख्यार्थ है—वेद । श्रीचैतन्यचरितामृत आदिलीलामें कहा गया है—

स्वतः प्रमाण वेद प्रमाण शिरोमणि ।
लक्षणा हइते स्वतः प्रमाणता हानि ॥ (।१३२)

मध्यलीलालामें भी वेदको प्रधान प्रमाण कह कर उसे ही आम्नाय कहा गया है—

प्रमाणेर मध्ये श्रुति-प्रमाण प्रधान ।
श्रुति जे मुख्यार्थ कहे सेइ से प्रमाण ॥
स्वतः प्रमाण वेदवाक्य सत्य जेई कहे ।
लक्षणा करिले स्वतः प्रामाण्य हानि हये ॥
(६।१३५,१३७)

गोस्वामियोंके षट्सन्दर्भ आदि ग्रन्थों और श्रीचैतन्यचरितामृतकी पूर्वोक्त अनुव्याख्याके अन्तर्गत गणना होती है । अतएव वेद, पुराण, इतिहास, उपनिषद्, वेदान्त-सूत्र और वैष्णवाचार्योंके भाष्य ग्रन्थ आदि सभी आप्त वाक्य हैं । इन आप्तवाक्योंका श्रीमद्भागवत एकादश स्कन्धमें विशेष माहात्म्य बतलाया गया है—

कालेन नष्टा प्रलये वाणीयं वेद संज्ञिता ।
मयादौ ब्रह्मणे प्रोक्ता यस्यां धर्म्मो मदात्मकः ॥
तेन प्रोक्ता स्वपुत्राय मनवे इत्यादि ।

× × ×

याभिर्भूतानि भिद्यन्ते भूतानां पतयस्तथा ॥
एवं प्रकृति वैचित्र्याद्भिद्यन्ते मतयो नृणाम् ।
पारम्पर्येण केषांचित पाषण्डमतयोऽपरे ॥
(श्रीमद्भा० ११।१४।३-७)

श्रीकृष्ण उद्धवजीसे कह रहे हैं—वेद नामक वाणीको मैंने सबसे पहले ब्रह्मासे कहा था । उसीमें मेरे स्वरूपनिष्ठ विशुद्ध भक्तिरूप जैवधर्मका वर्णन है । वही वेद नाम वाणी नित्य है । प्रलयकालमें वह वाणी लुप्त हो जाती है और सृष्टिके प्रारम्भमें मैं पुनः उसे विशदरूपमें ब्रह्माको बतलाता हूँ । ब्रह्मा उसे अपने पुत्र मनु आदिको बतलाते हैं । क्रमशः देवता, ऋषि और मनुष्य भी उस वेदवाणीको प्राप्त होते हैं । भूतों और भूतपतियों (देवता, दानव, मनुष्य आदि) के स्वभाव उनकी वासनाएँ सत्त्व, रज और तमोगुणके कारण भिन्न-भिन्न हैं, इसलिये वे सभी अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार उस वेदवाणीका भिन्न भिन्न अर्थ ग्रहण करते हैं और इसीलिये नाना प्रकारके विचित्र मत प्रकाशित हुए हैं । उद्धव ! जो लोग ब्रह्मासे गुरुपरम्परागत उसी वेद वाणीकी प्रकृत अनुव्याख्याको प्राप्त हुए हैं, वे ही विशुद्ध मत स्वीकार करते हैं । दूसरे सभी बिना किसी विचारके नाना प्रकारके वेद विरुद्ध पाषण्डमतावलम्बी हो पड़ते हैं ।

इससे यह स्पष्ट जान पड़ता है कि 'ब्रह्म सम्प्रदाय' नामक एक सम्प्रदाय सृष्टिके आरम्भसे ही चलता आ रहा है। उसी सम्प्रदाय में ही गुरु परम्परागत विशुद्ध वेदवाणीमें भगवद्धर्म पूर्णरूपेण संरक्षित है। उसी वाणीका नाम आम्नाय (आ+म्न+घञ्) है। जो लोग "परव्योमेश्वरस्यासीच्छिष्यो ब्रह्मा जगत्पति" *इत्यादि वचनों में प्रदर्शित ब्रह्म सम्प्रदायको स्वीकार नहीं करते, वे भगवान्के कहे हुए पाषण्डमतावलम्बी हैं और वे उसी पाषण्डमतोंका प्रचार करनेवाले हैं। श्रीकृष्णचैतन्य-सम्प्रदायको स्वीकार करके भी जो लोग गुरुपरम्पराको सिद्ध प्रणालीको स्वीकार नहीं करते, वे कलिके साक्षात् गुप्तचर हैं—इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

जैसा भी हो, सभी सौभाग्यवान् लोग गुरु परम्परागत आप्तवाक्यरूप आम्नायको ही सर्वश्रेष्ठ प्रमाण मानते हैं। यही श्रीचैतन्यमहाप्रभुकी प्रथम शिक्षा है।

तत्त्व सन्दर्भमें श्रीजीव गोस्वामीने कहा है—

अथैषां सूचितानां श्रीकृष्ण-वाक्य-वाचकता-लक्षण सम्बन्ध-तद्भजन लक्षण-विधेय-तत्-प्रेमलक्षण-प्रयोजनाख्यानामर्थानां निर्णयाय प्रमाणं भावद्भिर्निर्णीयते। तत्र पुरुषस्य भ्रमादि-दोष-चतुष्टय-दुष्टत्वात् सुतरामचिन्त्यालौकिक-वस्तु-स्पर्शायोग्यत्वाच्च तत् प्रत्यक्षादीन्यपि सदोषाणि। ततस्तानि न प्रमाणानीत्यनादि सिद्ध—"सर्वपुरुषपरम्परासु" सर्वलौकिकालौकिक-ज्ञान-निदानत्वाद् प्राकृत वचन-लक्षणो वेद एवास्माकं सर्वातीत-सर्वाश्रय-सर्वाचिन्त्याश्चर्य-स्वभावं वस्तु विविदिषतां प्रमाणम्। (तत्त्वसन्दर्भ ९-१०)

अब श्रीकृष्ण-वाच्य-वाचकता-लक्षण सम्बन्ध, उनका भजन-लक्षण विधेय और तत्प्रेम-लक्षण प्रयोजन—इन तीनों अर्थोंका स्वरूप निर्णय करनेके लिये प्रमाणका निरूपण कर रहा हूँ। मनुष्य स्वभावतः भ्रम, प्रमाद, करणापाटव और विप्रलिप्सा—इन चार प्रकारके दोषोंसे वशीभूत होता है। इसलिये वह अचिन्त्य अलौकिक वस्तुका स्पर्श करनेमें अयोग्य होता है। उनके प्रत्यक्ष आदि प्रमाण दोषयुक्त होते हैं। इसलिये प्रत्यक्ष और अनुमान आदि (निर्दोष) प्रमाण नहीं माने जाते हैं। अनादि सिद्ध पुरुष-परम्परा-प्राप्त सार्वलौकिक और अलौकिक ज्ञानका निदानस्वरूप अप्राकृत वचन-लक्षण 'वेदवाणी' ही सबसे अतीत, सर्वाश्रय, सर्वाचिन्त्य आश्चर्य स्वभावयुक्त वस्तुके विज्ञानको जानने वाले पुरुषोंके लिये एकमात्र प्रमाण है।

श्रीजीवगोस्वामीने आप्तवाक्योंकी प्रमाणिकता सिद्ध करके पुराणोंकी भी उसी रूपमें प्रमाणिकता सिद्ध की है और श्रीमद्भागवत महापुराणको उनमें भी सबसे श्रेष्ठ प्रमाण स्थापित किया है। जिस लक्षण द्वारा उन्होंने श्रीमद्भागवतका श्रेष्ठत्व स्थापन किया है, उसी लक्षणके द्वारा ब्रह्मा, नारद, व्यास और शुकदेव तथा पुनः क्रमशः विजयध्वज, ब्रह्मतीर्थ, व्यासतीर्थ आदिके तत्त्वगुरु श्रीमन्मध्वाचार्यके ग्रन्थोंका भी उल्लेख किया है। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि श्रीब्रह्मसम्प्रदाय ही श्रीचैतन्यमहाप्रभुके सेवकोंकी गुरु-प्रणाली है। श्रीकविकर्णपुर गोस्वामीने भी इसीके अनुसार दृढ़तापूर्वक अपने "गौरगणोद्देश-दीपिका" नामक ग्रन्थमें गुरुप्रणालीका उल्लेख किया है। वेदान्तसूत्रके प्रसिद्ध भाष्यकार श्रीबलदेव विद्याभूषणने भी इसी-प्रणालीको स्थिर रखा है। जो इस प्रणालीको अस्वीकार करते हैं, वे श्रीकृष्णचैतन्यके चरणानुचरोंके प्रधान शत्रु हैं—इसमें कोई सन्देह नहीं है।

आप्तवाक्यके विचारके सम्बन्धमें एक विशेष ध्यान देनेकी बात है। समस्त आप्तवाक्य स्वतःसिद्ध हैं। इसमें लक्षणा अवलम्बन करनेकी कोई आवश्यकता नहीं होती। 'कदम्ब'—शब्दका श्रवण करनेसे जो अर्थ प्रतीत होता है, वह शब्दकी अभिधावृत्तिसे

* वैकुण्ठपति श्रीनारायणके आदि शिष्य विश्वकर्ता ब्रह्मा।

हुआ करता है। "अयं शचीनन्दनः साक्षात् नन्दनन्दन एव।" यह वाक्य श्रवण करते ही ऐसा प्रतीत होता है कि श्रीगौरसुन्दर साक्षात् कृष्णचन्द्र हैं। "गङ्गायां घोषः" अर्थात् गङ्गामें घोष पल्ली—इस वाक्यका अर्थ अभिधावृत्तिसे नहीं निकलता। इसलिये लक्षणा द्वारा इसका इस प्रकार अर्थ होगा—गङ्गाके तट पर घोषपल्ली है। वेदवाणीमें लक्षणावृत्तिकी आवश्यकता नहीं होती। सर्वत्र अभिधावृत्ति द्वारा अर्थ होता है। छान्दोग्य—(८।१३।१) में कहा गया है—'श्यामाच्छबलं प्रपद्ये शबलाच्छ्यामं प्रपद्ये"—(श्रीकृष्णकी स्वरूपशक्तिका नाम शबल है। श्रीकृष्णके आश्रयमें स्वरूपशक्तिकी ह्लादिनी-सार-भावका आश्रय करता हूँ। और ह्लादिनीके सारके आश्रयमें श्रीकृष्णका आश्रय करता हूँ)। अभिधावृत्तिसे ही जब न्यायसिद्ध अर्थ पाया जा रहा है, तब श्रीशङ्कराचार्य की तरह मैं भी "श्याम"-शब्दका अर्थ "हाई ब्रह्मत्व" क्यों अनुमान करूँ? मुक्त पुरुष स्वाभाविकरूपमें श्रीश्याम सुन्दरके युगल-स्वरूपकी उपासना करते हैं। यही इस वेदवाणीका सिद्ध अर्थ है। अतएव चैतन्यचरितामृतमें 'लक्षणासे स्वतः प्रमाणताकी हानि होती है"—ऐसी उक्ति देखी जाती है। लक्षणाके अनेक प्रकारके भेद हैं। जगदीश "शब्दशक्तिप्रकाशिका" कहते हैं—

जहत्स्वार्थाजहत्स्वार्थ-निरूढाधुनिकादिकः ।
लक्षणा विविधास्ताभिर्लक्षकं स्यादनेकधा ॥

लक्षणा जितने भी प्रकारकी हो अर्थात् जहत् स्वार्था, अजहत् स्वार्था, निरूढ़ा और आधुनिक आदि सब प्रकारकी लक्षणा ही अप्राकृत वस्तुका निर्णय करनेमें कोई सहायता नहीं कर सकती हैं। बल्कि इसके विपरीत अप्राकृत वस्तुके निर्णयमें उनको नियुक्त करनेसे भ्रम ही पैदा कर देती हैं। श्रीशङ्कराचार्यका कथन है कि अनिर्देश्य-तत्त्वके विषयमें अभिधावृत्ति कार्य नहीं करती; अतएव लक्षणा द्वारा ही वेदका अर्थ निर्णय करना चाहिये। इसपर श्रीगौड़पूर्णानन्द मध्वाचार्यने इस प्रकार आपत्ति उठायी है—

नाङ्गीकृताभिधा यस्य लक्षणा तस्य नो भवेत् ।
नास्ति ग्रामः कुतः सीमा न पुत्रो जनकं विना ॥
(तत्त्वमुक्तावली २२)

शब्दशक्तिके विचारमें यह निर्णय किया है कि जहाँ अभिधाको ग्रहण नहीं किया जाता, वहाँ लक्षणाको ग्रहण करनेका कोई प्रश्न ही नहीं उठता। जहाँ ग्राम ही नहीं है, वहाँ सीमाका तर्क ही क्यों? जनकके बिना पुत्र कैसे पैदा हो सकता है? वितर्क यह है कि अनिर्वचनीय वस्तुमें जब अभिधाद्वारा शब्द कार्य नहीं करता, तब अभिधाका सहायक लक्षणावृति क्या कार्य करेगी? अतएव लक्षणावृतिका त्याग करके आप्तवाक्यकी अभिधाशक्तिका अवलम्बन करके ही अप्रकृत वस्तुकी खोज करना बुद्धिमान व्यक्तिका काम है। उपसंहारमें निम्नलिखित कारिकाएँ प्रस्तुतकी जा रही हैं—

यः आदिकवये तेने हृदा ब्रह्म सनातनम् ।
स चैतन्यः कलौ साक्षादमार्जीत्तन्मतं शुभम् ॥
विप्रलिप्सा प्रमादश्च करणापाटवं भ्रमः ।
मनुष्याणां विचारेषु स्याद्धि दोष-चतुष्टयम् ॥
तदधोक्षज-तत्त्वेषु दुर्निवार्यं बुधैरपि ।
अपौरुषेय-वाक्यानि प्रमाणं तत्र केवलं ॥
प्रत्यक्षमनुमानञ्च तदधीनतया क्वचित् ॥

जिन श्रीचैतन्यदेवने आदि-कवि ब्रह्माके हृदयमें सनातन-वेदवाणीका विस्तार किया था, उन्होंने ही इस कलिकालमें श्रीनवद्वीपमें अवतीर्ण होकर उस वेदोदित शुभमतको काल दोषसे मुक्त करके सुपवित्र किया है। विप्रलिप्सा, प्रमाद, करणापाटव और भ्रम-ये चार दोष मनुष्यमात्रके विचारमें अवश्य ही प्रवेश करते हैं। इसलिये इन्द्रियातीत-तत्त्वके सम्बन्धमें बड़े-बड़े पण्डितजन भी उक्त चारों दोषोंसे मुक्त नहीं हो पाते। अतएव अतिन्द्रिय तत्त्वके सम्बन्धमें अपौरुषेय वेदवाक्य ही एक मात्र प्रमाण हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, ऐतिह्य आदि प्रमाणसमूह शब्द प्रमाणके अधीन होने पर ही कभी-कभी कार्य करनेमें समर्थ होते हैं।

—ॐ विष्णुपाद श्रीभक्ति विनोद ठाकुर

साधु कौन है ?

संस्कृतके साधु शब्दका अँग्रेजीमें 'Mendicant' शब्दसे अनुवाद किया जाता है, जिसका अर्थ होता है—भिक्षुक या भिखारी । कहीं-कहीं पर 'Sage' शब्दका भी प्रयोग किया जाता है । परन्तु श्रीमद्-भगवद्गीता या श्रीमद्भागवत आदि धर्म-शास्त्रोंमें 'साधु' शब्दकी दूसरे ही रूपमें व्याख्या की गई है ।

जो व्यक्ति भगवान्की अप्राकृत-सेवामें सम्पूर्ण विश्वास रखता है और उसीमें सर्वदा तत्पर रहता है, उसे ही श्रीमद्भगवत्गीतामें साधु या महात्मा कहा गया है । यदि कदाचित् किसी ऐसे व्यक्तिमें कुछ दुर्गुण भी दिखाई पड़ें, जो साधुओंमें होना अनुचित है, तो भी उसे साधु ही मानना चाहिये; क्योंकि भगवान्में उसका दृढ विश्वास होता है । भगवत्-गीतामें भगवान् स्वयं इसका प्रतिपादन करते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥
(गीता ९।३०)

भक्त (सन्त) के गुण

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भक्तका लक्षण बतलाया गया है । साधुओंमें असंख्य प्रकारके सद्गुण होते हैं । फिर भी साधु प्रधानतः—(१) दयालु, (२) सहिष्णु, (३) सत्यसार, (४) सम, (५) निर्दोष, (६) वदान्य, (७) मृदु, (८) शुचि, (९) अकिञ्चन, (१०) सर्वोपकारक, (११) शान्त, (१२) कृष्णैक शरण, (१३) निष्काम, (१४) निरीह, (१५) स्थिर, (१६) विजित षड्गुण, (१७) मिताहारी, (१८) अप्रमत्त, (१९) मानद, (२०) नम्र, (२१) गम्भीर, (२२) करुण, (२३) मैत्र, (२४) कवि, (१५) दक्ष, (२६) मौनी होता है ।

'यद्यपि किसी व्यक्तिमें दुर्गुण रहें' ऐसा कहनेसे भगवत्गीतामें कहे गये साधुओंके उपरोक्त छब्बीस प्रकारके गुणोंका निषेध नहीं किया गया है ।

गीता (९।३१) में बतलाया है कि दृढ़ श्रद्धासे युक्त शीघ्र ही साधुओंके समस्त सद्गुणोंका अधिकारी भक्त बन सकता है ।

भगवत्-सेवामें विश्वासपूर्वक तत्पर रहनेसे समस्त सद्गुणों का शीघ्र ही निवास हो जाता है । इसलिये साधुके लिये भगवान्का अनन्य भक्त होना अत्यावश्यक है ।

बद्ध-जीव दो प्रकारकी क्रियाओंसे प्रेरित होता है । एक उसके भौतिक शरीरसे सम्बन्धित है और दूसरी उसके आत्मा से । जहाँ तक भौतिक शरीरका सम्बन्ध है, उसे शरीर और जीवन-निर्वाहके लिये बहुतसे विधि-विधानोंका पालन करना पड़ता है । साथ ही सामाजिक व्यवहार तथा शरीर एवं मनसे सम्बन्धित वस्तुओंकी रक्षा भी करनी पड़ती है । परन्तु आत्माका शरीरसे सर्वथा पृथक् अस्तित्व है ।

भगवान्के प्रति जो दृढ़-विश्वास है, उसीके द्वारा आत्माका अस्तित्व अनुभूत होता है । आत्माके द्वारा ही भगवत्-सेवाका शुद्ध अनुभव होता है । बद्ध-दशामें भौतिक शरीर और मनकी रक्षा करनी पड़ती है । इसलिये जब तक शरीर रहे, तब तक शरीर और आत्माका सम्बन्ध अपरिहार्य है । कोई व्यक्ति आध्यात्मिक दृष्टिसे चाहे जितना भी ऊँचा क्यों न हो, परन्तु उसे शरीरसे सम्बन्ध रखना ही पड़ता है । जितनी ही आध्यात्मिक उन्नति होती जाती है, शारीरिक आवश्यकताएँ भी क्रमशः घट जाती हैं । यदि किसी व्यक्तिकी आध्यात्मिक विषयोंमें रुचि है,

तो वह शरीरके लिये अनावश्यक चेष्टा नहीं करता। जो मनुष्य भर-पेट खा चुका है, उसे उस समय भूख नहीं लगती। भौतिक चेष्टाएँ आत्माकी सिद्ध अवस्थामें सम्पूर्ण रूपसे शान्त हो जाती हैं। भारतीय सभ्यताका यही मूलाधार है। प्राचीनकालमें आध्यात्मिक दृष्टिकोण उन्नत होनेके कारण शरीरसे सम्बन्धित अत्यधिक आवश्यक वस्तुओंका ही उपयोग किया जाता था। प्राचीनकालमें जो भौतिक उन्नति नहीं देखी जाती, उसका कारण तत्कालीन लोगोंमें भौतिक ज्ञानका अभाव न था। वरन् भौतिक उन्नतिको अनावश्यक समझकर ही उसकी ओर ध्यान नहीं दिया गया।

भौतिकवाद और आध्यात्मिक विकासकी तटस्था अवस्थामें ऐसा हो सकता है कि कोई आत्मज्ञानी व्यक्ति अपनी पुरानी बुरी आदतोंके कारण अकस्मात् भौतिक वस्तुओंके प्रलोभनमें पड़ जाय। परन्तु ऐसे आकस्मिक लक्षणों को देखकर ही किसी भगवत्-सेवा-परायण व्यक्तिको असाधु नहीं समझ लेना चाहिये। भगवान्‌के प्रति दृढ़ विश्वास और दृढ़ सेवाकी भावना रहनेसे ही मार्ग भ्रष्ट भक्त भी ठीक पथपर आ सकता है और वह लगातार उन्नतिकर सकता है। भक्ति-मार्ग अत्यन्त निश्चित मार्ग है।

'सुदुराचार' कहनेसे उसके अन्तर्गत समस्त प्रकार के घृणित कर्म आ जाते हैं। जैसे हत्या करना, चोरी करना, अपहरण करना इत्यादि। भगवान्‌की सेवामें दृढ़ विश्वास रखनेके कारण अनन्य भक्तको किसी प्रकारका कष्ट नहीं होता। साधु व्यक्तिमें अवगुण कम देखे जाते हैं। यदि हठात् कोई दोष दिखलाई भी पड़े, तो वे शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं क्योंकि भक्त भगवत् सेवामें अनन्य भावसे तत्पर रहता है।

भगवान्‌की सेवाकी अनन्य अभिलाषा प्रज्वलित अग्नि का कार्य करती है। यह इतनी तेज और निर्मल होती है कि अज्ञ व्यक्तिके सारे दोष उसमें जलकर शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं और वह समस्त सद्गुणोंका अधिकारी बन जाता है। अतएव भगवत्-भक्त ही साधु कहलाने योग्य हैं।

ऐसा साधु व्यक्ति सहनशील और दयालु होता है, परस्पर मैत्री भाव रखता है। उसका स्वभाव शान्त होता है और उसका कोई भी शत्रु नहीं होता।

साधुका दर्शन नेत्रसे नहीं, बल्कि कानसे करना चाहिये। तात्पर्य यह है कि साधुको गुणोंसे ही पहचाना जाता है आजकल रसायनिक-साधु, जादूगर-साधु, ज्योतिषी-साधु, गंजेड़ी और भँगेड़ी साधु, भिखारी-साधु, गुप्त-साधु, परिचारिका-साधु, चिकित्सक-साधु, राजनैतिक-साधु आदि नाना प्रकार के साधु देखे जाते हैं। परन्तु ये सब साधु सच्चे साधु नहीं हैं। ये वेशोपजीवी हैं, जो साधु-मर्यादाका उल्लंघन करते हैं। आजकल अनेक चरित्रहीन व्यक्ति पेट-पालनके लिये साधुका-सा वेष बना लेते हैं।

कुछ ऐसे साधुओंके पास तांबेसे सोने बनानेकी कला, किसी रोगकी चिकित्सा, बुरे कर्मोंमें सफलता पानेकी विद्या, ज्योतिष-विद्या, नशाखोरी आदि की कूट विद्याएँ सीखनेके लिये जाया करते हैं और ऐसे साधुओं द्वारा ठगे जाने पर वे लोग सच्चे साधुओंकी भी निन्दा कर बैठते हैं। अज्ञव्यक्ति साधु-असाधुकी पहिचान भी नहीं कर सकते।

मनुष्योंमें दैवी-प्रवृत्तिको जगाना ही साधुका प्रधान कार्य है। गृहस्थ लोगोंका जीवनके प्रति अत्यन्त क्षुद्र दृष्टिकोण है। आजकलके मनुष्य उन्नत पशु जीवनको ही सभ्यता समझते हैं। सभ्य कहलानेवाला मनुष्य भक्ष्याभक्ष्य का विचार नहीं रखता। निषिद्ध खाद्य वस्तुओंका व्यवहार करते हुए भी वह अपने आपको पशुसे श्रेष्ठ समझता है।

पारमार्थिक दृष्टिकोण क्षुद्र होनेके कारण गृहस्थ व्यक्ति अपने अमूल्य जीवनको यों ही व्यर्थ गँवाता है।

साधु सब जीवोंके प्रति क्षमाशील होते हैं। इसलिए साधुका प्रधान कर्त्तव्य यह है कि वह गृहस्थोंको भी ठीक मार्ग बतलावें। प्राचीन कालमें साधु भिक्षुक-वेष ग्रहण करते थे। क्योंकि उस रूपमें गृहस्थों द्वारा सरलतासे पहचाने जाते थे। गृही व्यक्ति ऐसे भिक्षुकों और साधुओंका आदर करते थे, क्योंकि उनके सङ्गसे उन्हें ज्ञान प्राप्त होता था। साधु भी गृहस्थोंको भक्तिका उपदेश दिया करते थे, और अपना जीवन निर्वाह भिक्षा द्वारा ही करते थे।

श्रीचैतन्यमहाप्रभुने स्वयं भगवान् होते हुए भी आदर्श साधुका जीवन दिखलाया था। एक समय वे वृन्दावनसे लौट रहे थे, रास्तेमें वृन्दावन स्मृतिके कारण प्रेमसे मूर्च्छित हो गये। उनके साथी उनकी सुश्रूषा करने लगे और उनके कानोंके निकट भगवन्नामका कीर्तन करने लगे। दैववश उसी रास्तेसे मुगल-सम्राट्के कुछ सैनिक आ निकले, उन्होंने महाप्रभुके साथियोंको डाकू समझकर गिरफ्तार कर लिया। उन्होंने यह समझा कि मूर्च्छित व्यक्तिको इन्हीं लोगोंने विष दे दिया है और अब उसके धनको लूटनेकी चेष्टामें हैं। इसी समय श्रीचैतन्यमहाप्रभुजी जब चैतन्य हुए, तो उनसे सैनिकोंने उनकी मूर्च्छाका कारण पूछा।

महाप्रभुने यह बतलाया कि वे एक संन्यासी हैं और उनके पास अपने बहिर्वास और कौपीनके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। वे अपनी बीमारीके कारण मूर्च्छित हो गये थे। साथके व्यक्ति उनके मित्र थे।

आजकलके साधुओंके पास गृहस्थ लोगोंसे भी अधिक विषय रहता है। किसी-किसीके पास जमीन जायदाद भी है। कोई-कोई सूदपर रुपया भी एकत्रित करते हैं। साधारण लोग ऐसे साधुओं द्वारा ठगे जाते हैं। ये सब अनेक प्रकारके ढोंग रचते हैं। इन लोगोंको साधु कदापि नहीं समझना चाहिए।

साधु भगवानका शुद्ध-भक्त होता है चाहे वह किसी भी वेषमें क्यों न हो। वह सत्य-वस्तु भगवानको सम्पूर्ण रूपसे जानता है। इस ज्ञानको वह अपनी असीम दया वशतः दूसरोंको भी दिया करता है। साधुके मुखसे भगवत् कथा श्रवण करना चाहिए। बाहरी दृष्टिसे साधुको जाननेकी चेष्टा करना अनुचित है। जिन व्यक्तियोंको भगवानके नित्य-स्वरूपमें विश्वास नहीं है, वे साधु कहलाने योग्य नहीं हैं।

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥
(गीता ६।१३)

गीतामें भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

—अर्जुन! दैवी प्रकृतिके आश्रित हुए जो महात्माजन हैं, वे मुझको सब भूतोंका सनातन कारण और नाश रहित अक्षर स्वरूप जानकर अनन्य मनसे युक्त होकर निरन्तर मेरा भजन करते हैं।

—बैक-टु-गॉड हेड से अनूदित

श्रीगुरुदेव क्या तत्त्व हैं ?

श्रीगुरुदेव सर्वश्रेष्ठ कृष्णतत्त्ववेत्ता हैं। वे दिव्य ज्ञान प्रदान करते हैं। पाठशालाके गुरु, जन्मदाता-गुरु, अंग्रेजी हिन्दी आदिकी शिक्षा देनेवाले गुरु, ये सभी आंशिक गुरु हैं। जो दिव्य नेत्र प्रदान करते हैं, पूर्णवस्तु श्रीगौरकृष्णकी अपार करुणाकी बात अवगत करा करके मङ्गलमय-वस्तु श्रीहरिकी सेवामें नियुक्तकर दुःखीको सुखी, भीतको निर्भय, चिन्तित को निश्चिंत करते हैं, एवं विषयीको संसारसे विमुख कर भगवत्-उन्मुख करते हैं, वे परमकरुण महाजन ही जन्म-जन्ममें नित्यकाल हमारे गुरु हैं। जगत्की प्रत्येक वस्तु जिनके सेव्य तत्त्व भगवानके सेवोपकरण हैं, उन्हीं श्रीगुरुपादपद्ममें ही गुरुत्वका पूर्णत्व और नित्यत्व प्रकाशित है।

श्रीकृष्ण स्वयं अपनी सेवाकी शिक्षा देनेके लिए श्रीगुरुपादपद्मके रूपमें जगतमें अवतीर्ण होते हैं। श्रीहरि ही शास्त्ररूपसे, गुरुरूपसे और अन्तर्यामी रूपसे जीवको उपदेश दिया करते हैं। करुणावतार भगवान् श्रीगौराङ्गदेव ने कहा है—

> मायामुग्ध जीवेर नाहि कृष्णस्मृति-ज्ञान।
> जीवेरे कृपाय कैला कृष्ण वेद-पुराण॥
> शास्त्र-गुरु-आत्म रूप आपनारे जानान।
> कृष्ण मोर प्रभु, त्राता-जीवेर हय ज्ञान॥
> (चै. च. म. २०।१२२-१२३)

हम जिनकी अयाचित कृपासे गुरुतत्त्व श्रवण करनेका सौभाग्य प्राप्त किये हैं, और जिनकी कृपा और शिक्षा प्राप्तकर इस विषयमें कुछ लिखनेका प्रयास कर रहे हैं, उन्हीं परमकरुणामय जगद्गुरु ॐ विष्णुपाद श्री श्रीलभक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी प्रभुपादने गुरुतत्त्वके सम्बन्धमें हमें इस प्रकार शिक्षा दी है—

"साक्षात् भगवान्को जैसा समझते हैं, ठीक वैसा ही श्रीगुरुदेवको भी समझना चाहिए। गुरुदेव-को भगवानसे किसी भी प्रकार कम नहीं समझना चाहिए। बुद्धिमान व्यक्तियोंका कर्त्तव्य है कि वे श्रीगुरुदेवको भगवानके समान मानकर उनकी सेवा और पूजा करें। यदि ऐसा न करेंगे। तो वे शिष्यत्वसे भ्रष्ट हो जायेंगे।

महान्त गुरुदेवको भगवानसे अभिन्न-भगवानकी प्रकाशमूर्त्ति न जाननेसे भगवानका शुद्धनाम कदापि उदय नहीं हो सकता है। श्रुतिका मर्म वे ही समझ सकते हैं, जिनकी भगवान् और गुरुमें अभिन्न बुद्धि है। शास्त्रोंने इसका स्थान-स्थान पर दृढ़तासे प्रतिपादन किया है—

> यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
> तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

सच्चिदानन्द भगवानका शरीर है, अंग-प्रत्यंग हैं। वे मानो अपने ही हाथोंसे अपने पैरोंको खुजला रहे हैं। भगवानका हाथ भी उनका शरीर है। अतः स्वयं भगवान अपनी सेवा करते हैं। वे अपनी सेवा-की शिक्षा देनेके लिए स्वयं ही गुरुरूपमें अवतीर्ण हुए हैं। हमारे गुरुदेव भी उसी प्रकार भगवानसे अभिन्न हैं। स्वयं भगवान सेव्य-भगवान या आश्रय भगवान हैं। हमारे गुरुदेवके समान और कोई भग-वानका प्रिय नहीं। वे भगवानके अत्यन्त प्रिय हैं।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें कहा है—

> यद्यपि आमार गुरु चैतन्येर दास।
> तथापि जानिये आमि तांहार प्रकाश॥
> गुरु-कृष्णरूप हन शास्त्रेर प्रमाणे।
> गुरुरूपे कृष्ण कृपा करेन भक्तगणे॥

आचार्यं मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचित् ।
न मर्त्यबुद्ध्यासूयेत सर्वदेवमयो गुरुः ॥
(भा० ११।१७।२७)

शिक्षा गुरुके तो जानि कृष्णेर स्वरूप ।
अन्तर्यामी, भक्तश्रेष्ठ—एई दुई रूप ॥

नैवोपयन्त्यपचितिं कवयस्तवेश,
ब्रह्मायुषापि कृतमृद्धमुदः स्मरन्तः ।
योऽन्तर्बहिस्तनुभृतामशुभं विधुन्वन्नाचार्य-
चैत्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ति ॥
(भा० ११।२९।६)

श्रीमद्भागवतमें उद्धवजी भगवान् श्रीकृष्णसे कह रहे हैं—प्रभो ! आप कृपापूर्वक दुस्तर संसार-सागरमें निमग्न दुःखी जीवोंकी अशुभ राशिका विनाशकर उनको अपने आनन्दमय वैकुण्ठधाममें ले जानेके लिए बाहरमें आचार्य रूपसे और भीतरमें अन्तर्यामीके रूपमें अवस्थित हैं। पण्डितजन ब्रह्मा जैसी आयु प्राप्त करके उसमें निरन्तर आपकी ऐसी करुणाकी कथाका चिन्तन और कीर्तन करके भी कभी शेष नहीं कर पाते ।

जीवे साक्षात् नाहि ताते गुरु चैत्यरूपे ।
शिक्षा गुरु हन कृष्ण महान्त स्वरूपे ॥
कृष्ण यदि कृपा करेन कोन भाग्यवाने ।
गुरु अन्तर्यामी रूपे शिखान आपने ॥
(चै. च.)

महाभाग्यवान् जीव ही कृष्णकी कृपा पा सकते हैं। "ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन भाग्यवान जीव । गुरु कृष्णप्रसादे पाय भक्तिलताबीज ।" जो श्रद्धालु जीव भगवानके श्रीचरणोंमें निष्कपट भावसे उनकी कृपा प्रार्थना करते हैं, उनपर परम करुणामय श्रीहरि दो रूपसे कृपा करते हैं। उनकी कृपाका प्रथम परिचय है—सद्गुरुकी प्राप्ति। भगवान बाहरमें ज्ञानदाता गुरुके रूपमें उपदेश देते हैं, और भीतर अन्तर्यामी रूपमें स्थित होकर उन उपदेशोंका अनुमोदन करके उन्हें ग्रहण और पालन करनेकी शक्ति प्रदान करते हैं। यही उनकी दूसरी कृपाका परिचय है। कुटिल व्यक्ति अन्तर्यामी प्रभुकी शिक्षा या कृपा पा नहीं सकता। केवल सरल और निष्कपट सज्जन ही अन्तर्यामीकी इस कृपा को लाभकर सद्गुरु चरणाश्रयपूर्वक हरिभजन करनेका सौभाग्य प्राप्त करते हैं। जो साधक निष्कपट होकर श्रद्धापूर्वक भगवत् कृपाके लिए प्रार्थना करता है, उनको भगवत्-कृपा अवश्यमेव प्राप्त होती है। ब्रह्म-वैवर्त्त पुराणमें भगवान श्रीकृष्णने भी शिवजीसे कहा है—"ये मां प्राप्तुमिच्छन्ति प्राप्नुवन्त्येव नान्यथा ।"

श्रीमद्भागवतके बङ्गला पद्य-अनुवाद श्रीकृष्ण-प्रेमतरङ्गिणीमें श्रीकृष्ण विप्र सुदामासे कहते हैं—

'ज्ञानदाता गुरुरूपे आमि भगवान ।'
\+ + +
उपदेश करि आमि गुरुरूप धरि ।
गुरु-उपदेशे लोक जाय भव तरि ॥
गुरुके साक्षात् हेन ईश्वर करि माने ।
सेई से आमार प्रिय सर्वतत्त्व जाने ॥
(श्रीकृष्णप्रेम तरङ्गिणी)

श्रीगुरुपादपद्म श्रीकृष्णसे कोई पृथक् तत्त्व नहीं हैं। वे मायातीत अधोक्षज वस्तु हैं। इसलिए उन्हें "भगवत्पाद", "भगवच्चरण", "ॐविष्णुपाद" और "प्रभुपाद" कहा गया है। गौरव अर्थमें ही पाद या चरण शब्दका प्रयोग किया जाता है।

श्रीगुरुदेव साक्षात् भगवत्-वस्तु हैं। वे स्व-प्रकाश-तत्त्व हैं। इसीलिए श्रीजीव गोस्वामीने भक्ति-संदर्भमें श्रीमद्भागवतका 'आचार्यं मां विजानीयात्' —श्लोकको उद्धृत कर कर्मियोंको भी अपने गुरुदेवके प्रति भगवत् भाव रखना कर्त्तव्य बतलाया है। मनुष्य बुद्धिसे उनके दोषोंका कदापि दर्शन न करेंगे।

जब कर्मियोंका ही कर्मीगुरुके प्रति भगवत्बुद्धि रखना कर्त्तव्य है, तब जो कृपापूर्वक संसारसे उद्धार करते हैं, भगवत्-ज्ञानको देकर अज्ञानान्धकारको दूर करते हैं एवं कोटिचन्द्र सुशीतल नित्यानन्दमय

श्रीभगवत्पादपद्मोंके निकट जीवको पहुँचा देते हैं, उस प्रेम भक्तिदाता कृष्णतत्त्वविद् पारमार्थिक गुरुमें अवश्य ही भगवत्-बुद्धि रखनी चाहिए।

श्रीमद्भागवतमें और भी कहते हैं—

यस्य साक्षाद्भगवति ज्ञानदीपप्रदे गुरौ।
मर्त्यासद्धीः श्रुतं तस्य सर्वं कुञ्जरशौचवत्॥
(भा० ७।१५।२६)

भगवत् ज्ञान प्रदाता श्रीगुरुदेव साक्षात् भगवान हैं। इस आचार्य रूपी प्रत्यक्ष भगवानको जो व्यक्ति मरणशील मानव समझता है, उस दुर्भागे व्यक्तिकी समस्त-सेवा, भगवत्मंत्रादिका जपादि, हरिकथा श्रवण-मनन और शास्त्राध्ययन सब कुछ ही हाथीके स्नानकी तरह व्यर्थ जाता है।

इस श्लोककी टीकामें श्रील चक्रवर्त्ती ठाकुर लिखते हैं—"किञ्च सत्यां भूयस्यामपि भक्तौ गुरौ मनुष्यबुद्धित्वे सर्वमेव व्यर्थं भवतीत्याह—यस्येति। साक्षाद् भगवतीति भगवदंशबुद्धिरपि गुरौ न कार्येति भावः, यद्वा उपास्ये भगवत्येव साक्षाद् विद्यमाने मर्त्यासद्धीः मर्त्य इति दुर्बुद्धितस्य श्रुतं भगवन्मंत्रादिकं श्रवण-मननादिकञ्च व्यर्थमित्यर्थः।"

श्रीगुरुदेव साक्षात् भगवान हैं। मेरे नित्य उपास्य भगवान गुरुके रूपमें कृपापूर्वक हमारे सम्मुख विद्यमान हैं। इस प्रत्यक्ष भगवान—साक्षात् विद्यमान भगवान गुरुको भगवानका अंश मानना भी ठीक नहीं है। उसी भगवत् वस्तु गुरुके प्रति यदि मनुष्यबुद्धि रूप दुर्बुद्धि हो जाय तो मङ्गलकी संभावना कहाँ है?

एष वै भगवान साक्षात् प्रधानपुरुषेश्वरः।
योगेश्वरैर्विमृग्याङ्घ्रिर्लोकं यं मन्यते नरम्॥
(भा० ७।१५।२७)

टीका—ननु गुरोः पितृपुत्रादयः प्रतिवेशिनः चे तं नरमेव मन्यन्ते? कथमेक एवायं शिष्यन्तं परमेश्वरं मन्यतामत आह—एष इति। भगवान् यदुनन्दनो रघुनन्दनो वा वै निश्चितमेव प्रधान पुरुषयोगीश्वरः। यं लोक तदवतारकालोत्पन्नो जनः नरं मन्यते तेन किं स नरो भवति? अपितु परमेश्वर एवेत्येवं गुरुरपीति भावः।

यदि कोई ऐसा समझे कि जब गुरुदेवके पिता-पुत्रादि कुटुम्बीजन उनमें (गुरुदेवमें) मरणशील मानव बुद्धि रखते हैं, तब मैं ही अकेला उन्हें किस प्रकार परमेश्वर मानूँ? इसका उत्तर यही है कि जगदीश्वर श्रीकृष्णचन्द्र और श्रीरामचन्द्र जब जगतमें अवतीर्ण हुए थे, तब कोई-कोई व्यक्ति उन्हें मनुष्य समझते थे। तो क्या वे दोनों परमेश्वर नहीं हैं? उसी तरह श्रीगुरुदेव भी साक्षात् भगवान् हैं।

श्रीभक्तिसन्दर्भमें गुरुतत्त्वके सम्बन्धमें कहा गया है—

यो मन्त्रः स गुरुः साक्षात् यो गुरुः स हरिः स्वयम्।
गुर्यस्य भवेत् तुष्टस्तस्य तुष्टो हरिः स्वयम्॥
(वामन कल्पे ब्रह्म-वाक्य)

वैष्णवं ज्ञानवक्तारं यो विद्यात् विष्णुवद् गुरुम्।
पूजयेद् वां मनः कार्यैः स शास्त्रज्ञः स वैष्णवः॥
(नारदपञ्चरात्र)

मन्त्र ही साक्षात् गुरु स्वरूप है और गुरु ही साक्षात् हरिस्वरूप हैं। इसलिए गुरु जिनके प्रति सन्तुष्ट होते हैं, स्वयं-हरि भी उनके प्रति सन्तुष्ट होते हैं।

भगवत् ज्ञान प्रदाता गुरुदेवको जो विष्णुतुल्य जानकर मनसा, वाचा, कर्मणा उनकी सेवा करते हैं, वे ही वास्तविक शास्त्रज्ञ हैं और वे ही वास्तविक वैष्णव या शिष्य हैं।

श्रीहरिभक्तिविलासमें कहा गया है—

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुरेव परं ब्रह्म तस्मात् संपूजयेत् सदा॥
(मनु-स्मृति)

श्रीगुरुपादपद्ममें भगवत्बुद्धि ही समस्त मङ्गलका मूल है। श्रीगुरुदेव स्वरूपतः भगवान नहीं है और उनमें भगवत्बुद्धि आरोप करना होगा—ऐसी बात नहीं है। परन्तु वे वस्तुतः भगवान ही हैं। श्रीविश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठाकुरने बतलाया है—

साक्षाद्धरित्वेन समस्तशास्त्रैरुक्तस्तथा भाव्यत एव सद्भिः।
किन्तुप्रभोर्यः प्रिय एव तस्य वन्दे गुरोः श्रीचरणारविन्दम्॥
(गुर्वष्टक ७)

समस्त शास्त्रोंने जिन्हें श्रीहरि कहकर कीर्तन किया है, एवं सन्तजन जिनको उसी रूपसे चिन्ता करते हैं, तथापि जो भगवानके अत्यन्त प्रियतम हैं, उन्हीं श्रीगुरुदेवके पादपद्मोंमें मैं प्रणाम करता हूँ।

श्रीगुरुदेव साक्षात् भगवान होने पर भी श्रीकृष्ण ही विषय-विग्रह हैं और श्रीगुरुदेव आश्रय-विग्रह हैं। यही विशेषता है।

चनेके दो दलों की भाँति एक ओर आश्रय-जातीय कृष्ण हैं, और दूसरी ओर विषय जातीय कृष्ण हैं। आश्रयजातीय कृष्ण ही—श्रीगुरुपादपद्म हैं। एकको छोड़कर दूसरेका अलग अस्तित्व नहीं है। जैसे सूर्य और उनका प्रकाश, पूर्णचन्द्र और पूर्णिमा एक हैं, वैसे ही कृष्ण और गुरु एक हैं। जैसे प्रकाशको छोड़कर सूर्यका सूर्यत्व, एवं सूर्यको छोड़कर प्रकाशका प्रकाशत्व स्वीकार नहीं किया जा सकता; उसी तरह गुरुको छोड़कर कृष्णका कृष्णत्व और कृष्णको छोड़कर गुरुका गुरुत्व स्वीकार नहीं किया जा सकता। प्रकाशके द्वारा ही सूर्यका दर्शन संभव है। उसी प्रकार श्रीगुरुदेवकी कृपासे ही भगवद्दर्शन संभव है।

श्रीकृष्ण शक्तिमान हैं और श्रीगुरुदेव स्वरूप-शक्ति हैं। श्रीकृष्ण गोपीनाथ हैं और श्रीगुरुदेव-गोपी हैं। श्रीकृष्ण शक्तिमत्तत्त्व हैं और श्रीगुरुदेव शक्तितत्त्व हैं। शक्ति एवं शक्तिमान परस्पर अभिन्न हैं—"शक्ति-शक्तिमतोरभेदः"। श्रीगुरुदेव साक्षात् भगवान होने पर भी भगवानके परम-भक्त हैं, भक्त-राज हैं, सेवक विग्रह हैं। वे कृष्णकी आकर्षिणी शक्ति हैं—भगवत्-कृपाके मूर्त्तिमान विग्रह हैं।

श्रीगुरुदेव नित्यानन्द प्रभुके अवतार या साक्षात् नित्यानन्द (बलदेव) प्रभु कहे जाते हैं। परन्तु इसीलिये वे पद्मावती-नन्दन या जाह्नवा-जीवन नहीं हैं। श्रीगौराङ्गदेवके मनोभीष्टका प्रचार करना ही श्रीनित्यानन्दप्रभुका कार्य है। श्रीनित्यानन्दप्रभुके इसी जगन्मङ्गल कार्यको श्रीगुरुदेव करते हैं। इसलिये उन्हें नित्यानन्दप्रभु कहते हैं। वे नित्य आनन्दमय मूर्त्ति होनेके कारण भी नित्यानन्द कहलाते हैं। वे आनन्दमय कृष्णको आनन्द प्रदान करते हैं, इसलिये उन्हें कृष्णानन्द भी कहा जाता है। जाह्नवा-जीवन श्रीनित्यानन्दप्रभुके साथ श्रीगुरुनित्यानन्दका यही वैशिष्ट्य है कि—श्रीनित्यानन्दप्रभु तत्त्वतः विषय-विग्रह होकर भी आश्रय-विग्रहकी लीला करते हैं और श्रीगुरुदेव तत्त्वतः आश्रय विग्रह ही हैं एवं वे आश्रय-की लीला करनेवाले हैं।

श्रीगुरुदेव दयाके सागर एवं शिष्य-वत्सल हैं। निष्कपट भावसे उनकी कृपाके लिए प्रार्थना करनेपर वे स्निग्ध शिष्यको अपना स्वरूप दिखलाते हैं। इसलिए हतोत्साह नहीं होना चाहिए। स्नेहयुक्त सेवा ही उनकी कृपा-प्राप्तिका एकमात्र उपाय है। श्रीचैतन्य चरितामृतमें कहते हैं—

स्नेहसेवापेक्षा मात्र श्रीकृष्ण-कृपाय।
स्नेहवश हइया करे स्वतन्त्र आचार॥
(चै. च.१०।१३९)

गुरु गोविन्द स्नेहके भूखे हैं। वे स्नेह करते हैं और स्नेह चाहते हैं। इसलिए स्नेह ही श्रीगुरु-गोविन्दकी सेवाका सर्वश्रेष्ठ उपकरण है।

श्रीहरिनाम जैसे भगवान भी हैं और भक्ति भी हैं। वे उपास्य और उपासना युगपत् हैं, वैसे ही श्रीगुरुदेव भी भगवान और भगवत्-भक्त दोनों ही

हैं। परन्तु वे भोक्ता भगवान नहीं हैं, सर्वदा सेवक भगवान हैं। श्रीगुरुदेव सदा सर्वदा कृष्ण-सेवामें तत्पर रहते हैं। कर्तृत्व, भोक्तृत्व या अपनी सुखकी वांछा उन्हें कभी स्पर्श भी नहीं कर सकती। श्रीगुरुदेव सर्वश्रेष्ठ कृष्णसेवक हैं, सेवक सम्राट् हैं। वे कृष्णयोषित् या कृष्णकान्ता हैं। श्रीकृष्ण Enjoyer Absolute अर्थात् भोक्ता-भगवान हैं और श्रीगुरुदेव Enjoyed Absolute अर्थात् भोग्य भगवान हैं। सम्भोक्ता-भगवान कृष्ण हैं और सम्भोग्या-भगवान लक्ष्मी या श्रीगुरुदेव हैं। उनका भगवानसे अविच्छेद्य सम्बन्ध है। हमारे गुरुपादपद्म नित्यसिद्ध व्रजवासी हैं।

वे श्रीराधाके निजजन-मधुर-रसाचार्य हैं। वे कृष्णमय हैं। वे समदर्शी अदोषदर्शी और सेवा विलासी हैं। उनकी सर्वेन्द्रियाँ कृष्ण-प्रेममय सच्चिदानन्दमय हैं। वे श्रीरूपाभिन्न विग्रह हैं। उनकी अप्राकृत रूप श्रीसे या सेवा-सौन्दर्यसे श्रीकृष्णके नयन-मन मुग्ध और आकृष्ट हैं। उनकी प्रेमसेवासे श्रीकृष्ण वशीभूत और चिरऋणी हैं। कृष्ण उनके प्राणबन्धु हैं। वे भी कृष्णके प्राणबन्धु हैं। वे कृष्णचन्द्रकी पूर्णिमा अथवा ज्योतिर्मय कृष्ण-सूर्यकी ज्योति या प्रकाश स्वरूप हैं। जैसे पूर्णिमामें ही पूर्णचन्द्रका उदय होता है, उसी प्रकार गुरुकृपासे भगवत् चन्द्रोदय संभव है। विभिन्न रसके भक्तगण गुरुको विभिन्न भावसे अनुभव करते हैं। दास्य रसके भक्त उनको दास्य रसका रसिक, सख्य रसके भक्त सख्यरसका आश्रय या भगवद्बन्धु, वात्सल्य-रसाश्रित भक्त वात्सल्य-रसका आश्रय विग्रह, एवं मधुर रस या उज्ज्वल रसके भक्त मधुर-रसाचार्य श्रीवृषभानुनन्दिनीकी प्रियसखी-व्रजगोपी समझते हैं। श्रीगुरुदेव श्रीराधाके सखीत्वकी अपेक्षा श्रीराधाके दासीत्वको अधिक आदर करनेपर भी प्रिय शिष्य निजाभीष्ट श्रीगुरुपादपद्मको श्रीराधाकी प्रिय सखी ही समझते हैं। साधक और सिद्धका गुरु-दर्शनमें अनेक तारतम्य है। इन सब विषयोंका प्रबन्धाकारमें आलोचना करना संभव नहीं है, परन्तु गुरुमुखसे श्रवण करने योग्य है।

भगवत्भजनमें या भगवत्दर्शनमें श्रीगुरुचरणाश्रय या गुरु-कृपा ही मूल है। जगद्गुरु श्रीलप्रभुपादने कहा है—

यदि श्रीगुरुपादपद्म नामक कोई वस्तु न रहे, तो भक्ति आरम्भ ही नहीं होती। आश्रय विचारमें अपने शक्तिके ऊपर निर्भर रहना ही अनर्थयुक्त अवस्था है। गुरु ही कृष्णपादपद्मके साथ साक्षात्कार करानेके योगसूत्र हैं।

कृष्ण अपने सर्वाधिक प्रिय वैष्णव या भक्तको जगतमें भेजकर अपनी सर्वाधिक करुणाका प्रदर्शन करते हैं। इस करुणाशक्तिके मूर्त्तिमान विग्रह ही—श्रीगुरुपादपद्म हैं। गुरु शिष्यके प्राण हैं। इसलिए गुरुकृपैक सम्बल हम आज श्रीगौराङ्ग महाप्रभुके निजजन अपने नित्य रक्षाकर्त्ता प्रभुपादकी कृपा भिक्षाकर प्रबन्धका उपसंहार करते हैं।

—त्रिदण्डिस्वामी श्रीश्रीमद्भक्तिमयूख भागवत महाराज

"सदाचार और मानव"

[१]

लोकके स्थलचर, जलचर, नभचर, कीट, पतंग, पशु-पक्षियोंसे मानव इसीलिये श्रेष्ठ है और सबसे उच्च पद पर प्रतिष्ठित है कि उसमें साधारण ज्ञानके साथ विशेषज्ञानकी मात्रा भी है। इसीसे उसकी मानव संज्ञा है। अन्यथा 'ज्ञानेन हीनः पशुभिः समानः" कहनेमें क्या आपत्ति है? ज्ञानके बलपर ही उसमें सद्-असद् विवेक एवं कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यका रूप जागृत होता है। यदि सद्ज्ञान प्रकट नहीं है, केवल "आहार निद्राभयमैथुनं च' के कार्य कलापमें ही संलग्न है, तो आकृतिसे सुन्दर मानव होने पर भी पशुश्रेणीमें ही उसकी गणना होगी; क्योंकि उसका मानवोचित कोई कार्य नहीं।

इसके अतिरिक्त जिसका ज्ञान अविद्याके रोगसे ग्रसित है, जो विनाशशील, धन-सम्पत्ति, साज-शृङ्गार, शरीर-वृद्धि, गगनस्पर्शी उच्च प्रासाद, विविध व्यंजन-सेवन, कामिनी भोग, मान, पद-प्रतिष्ठा, सफल नेतृत्व, वाग्मिता, और प्रतिभाका ही निरन्तर संग्रह कर रहा है, निजको कर्तीधर्ता विधाता मानकर स्वार्थरत काम, क्रोध, मोह, लोभ, ईर्षासे अभिभूत हो दैवी प्रवृत्तिका परित्याग कर आसुरी प्रवृत्तिके अनुसार उन्मत्तकी भाँति यथेच्छ आचरण करता है। उसे भी शास्त्रज्ञ मनीषियोंने दानव या पशु कहकर ही सम्बोधित किया है। क्योंकि वह जानकर भी दोष परायण होता है और उसका स्वभाव निम्नगामी है।

ज्ञान प्राप्तिकी वास्तविकता तभी है, तभी वह मानव कहलानेका अधिकारी है, जबकि वह भगवद्-भक्तिकी ओर अग्रसर होता है। परमार्थका साधक बन अपने स्वरूपको—आत्मतत्त्वको पहचानता है, दोषोंसे दूर होकर सदाचरण करता है।

यहाँ यह प्रश्न अवश्य उठता है कि वह ज्ञान भक्तिसे युक्त होने पर भी अविद्या रोगसे क्यों ग्रसित हो जाता है? उसमें आसुरी भाव क्यों जन्म लेते हैं? वह मानवके उच्चतम पदको छोड़ कर पशुत्वकी ओर क्यों बढ़ने लगता है? आत्मतत्त्वको भूलकर अनात्म तत्त्वसे क्यों प्रेम करता है? पार्थिव नश्वर पदार्थोंके प्रति अत्यधिक क्यों आकृष्ट होता है? तो उसका उत्तर यही दिया जा सकता है कि उसने विद्यासे अपना सम्बन्ध तोड़कर अविद्या और उसके परिवारसे सम्बन्ध जोड़ लिया है। अविद्याके प्रति उन्मुख होकर वह कुसंगति, कुसंस्कार और दुराचारोंकी ओर किसी न किसी रूपमें अग्रसर होता जा रहा है। उनका साथ कर शाश्वत प्रकाशसे अन्धकारकी ओर बढ़ता जा रहा है। मायिक भौतिक जगतमें प्रवेश कर गया है, जहाँ आपात रमणीय ऐन्द्रिय सुखोंका ही साम्राज्य है। मायाके पारिवारिकजनोंका बाहुल्य है, उन्हींका निरन्तर साहचर्य है। उनके कुचक्रसे अब इस स्थितिमें मानवका बाहर निकलना अति कठिन हो गया है। इसमें निवास करते-करते वह अपने वास्तविक संस्कारों एवं सदाचारोंको भूल गया है। इसीसे वह पथभ्रष्ट होकर परमशान्ति और परमानन्दसे दूर है। आजके युगकी परिभाषामें वह सभ्य सुसंस्कृत विकास-शील भले ही कहा जाय? परन्तु आर्य संस्कृतिसे वह असंस्कृत, असभ्य, असदाचारी और अविकासशील ही कहा जायगा, उसके लिये तो परम्परागत सुसंस्कार सदाचार ही एक ऐसा मार्ग है जिसमें त्रिकालमें भी किसी प्रकारकी बाधा नहीं, जो सदैव प्रकाशमय है श्रेयस्कर है। पश्चिमसे प्रभावित भौतिक विज्ञानके सथ अविद्याके मार्ग पर चलना किसी भी समयमें हितकर नहीं होगा, न हुआ है, प्रत्युत वह अधिक असंस्कृत और असदाचारी मानव बनता चला जायगा।

अतएव उसे भारतीय आर्योंके षोडश संस्कारोंका पालन करके सुसंस्कृत होना है, सदाचारका सेवन कर सच्चरित्र-सम्पन्न आर्य-जीवन प्राप्त कर सन्नागरिक बनना है।

परन्तु सदाचार पालनमें सर्वप्रथम उसे महर्षि पतञ्जलिके द्वारा आदिष्ट यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, समाधि, इस अष्टांगयोगके प्रति प्रयत्नशील होना पड़ेगा।

यममें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य्य, अपरिग्रह है। नियम में पवित्रता, सन्तोष, तपस्या, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान है। इसके अतिरिक्त आसन, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, और समाधिको स्वीकार करना होगा, अष्टांगयोग केवल योग साधकों और निर्गुणवादियोंकी वस्तु नहीं है यह तो आर्य जीवनके साभिलाषियों, सन्नागरिकों के लिये भी संग्राह्य है।

अतः मानवके लिये सदाचार सम्पन्नता साधक है, बिना उसके उसका स्वरूप स्थिर नहीं हो सकता। सदाचारसे बाहरी भीतरी शुद्धता होनेपर ही या पवित्रता प्राप्त करने पर ही निर्मल हृदयमें भक्तिका उद्गम होगा; जिस प्रकार सुसंस्कृत क्षेत्रमें ही बीजारोपण करनेपर सफल धानकी या फलकी प्राप्ति होती है।

अद्भिर्गात्राणि शुद्ध्यन्ति मनः सत्येन शुद्ध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धि ज्ञानेन शुद्ध्यति॥ मनु ५।१०५

जलसे शरीर शुद्ध होता है, सत्यसे मन पवित्र होता है। विद्या और तपसे आत्मा तथा बुद्धि ज्ञानसे शुद्ध होती है।

सदाचरणके सम्बन्धमें लिखा है—जिस व्यवहार से उसका हित तथा संसारका उपकार हो वह आचार या सदाचार कहा जाता है। उसके विरुद्ध व्यवहारोंको अनाचार या दुराचार कहते हैं। सदाचार ही एक धर्म है, मानवका कर्त्तव्य है।

आचारः परमोधर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च। मनु १।१०८

परन्तु आचारका पालन और उसकी कथा भी आज परिहासका विषय है, जिससे अपने हितके साथ मानव मात्रका कल्याण होता है। सुन्दर स्वस्थ दीर्घ जीवनकी प्राप्ति होती है। स्वस्वरूपमें स्थिति होती है।

आचाराल्लभतेह्यायुः आचाराल्लभते प्रजाः।
आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम्॥ मनु ४।१५६

सदाचारसे दीर्घ आयु प्राप्त होती है, आचारसे सुसन्तान मिलती है। आचारसे अक्षय धनका भागी होता है। आचार ही उसकी बुराइयोंको दूर करता है।

दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः।
दुर्भागी च सततं व्याधितोल्पायुरेव च॥ मनु ४।१५७

दुराचार पुरुषको लोकमें निन्दा होती है। वह भाग्यहीन अल्पायु रोगी होता है। आज जो देश की दशा विकृत हो रही है, संभालने पर भी नहीं संभलती, प्रत्येक क्षेत्रमें मलिनता, अशान्ति और बर्बरता छाई हुई है। सदुपदेश और संतोंके प्रवचनोंका मूल्य नहीं समझा जाता। उसका एकमात्र कारण सदाचारका अभाव है; उसके प्रति उपेक्षा-वृत्ति है। लोकमें श्रेष्ठ पुरुष, आर्य या सन्नागरिक वही है, जो सदाचारका आग्रही है।

कर्तव्यमाचरत्कर्म अकर्तव्यमनाचरन्।
तिष्ठति प्राकृताचारं स वै आर्य इति स्मृतः॥

करने योग्य कार्योंको करता हुआ और नहीं करने योग्य कार्योंको छोड़ता हुआ स्वाभाविक रूपसे जो आचरण करता है, वही आर्य कहा जाता है। यहाँ यह

प्रश्न उठ सकता है कि कर्तव्य-कर्म किसे कहना चाहिये और अकर्तव्य किस कर्मको कहते हैं; तो उसका संक्षेपमें उत्तर मनु महाराजने दिया है—

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम् ।
आचारश्चैव साधूनां मात्मनस्तुष्टिरेव च ॥ मनु २।६

आर्यजनोंके धर्म या कर्तव्यका मूल वेद है। इसके सिवाय वेदके जाननेवाले ऋषि-मुनि जो स्मृति आदि शास्त्र लिख गये हैं, उनमें भी धर्मका वर्णन तथा जैसा वे आचरण कर गये हैं वह भी हमारे लिये पालनीय है। क्योंकि श्रेष्ठजन जिस आचरणको करते हैं, उसी के अनुसार दूसरे साधारण जन भी आचरण करते हैं। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकः तदनुवर्तते ॥
न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषुलोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥
गीता ३।२१-२२

हे पार्थ ! श्रेष्ठजन जिस आचरणको करते हैं, उसे ही अन्य व्यक्ति भी करने लगते हैं। वे जिसे प्रामाणिक बताते हैं, उसे दूसरे उसी रूपमें मानते हैं। यद्यपि मुझे कोई कार्य नहीं करना है, न मुझे कोई वस्तु अप्राप्य है, न किसी वस्तुके प्राप्त करनेकी आकांक्षा है, फिर भी मैं लोक संग्रहार्थ कर्ममें प्रवृत्त होता हूँ।

सदाचारमें दैनिक चर्य्या है, जो मानव-जीवनके लिये उपादेय है। प्रातःकालमें उठनेसे लेकर रात्रिमें शयन करने तक हमारे शास्त्रोंमें जीवनोपयोगी आदर्श नियमोंके पालनकी विधि है, जिन्हें हम किसी न किसी रूपमें कर्म भी कह सकते हैं।

ब्राह्मे मुहूर्ते बुद्ध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत् ।
कायक्लेशांश्चतन्मूलान् वेदतत्त्वार्थ मेव च ॥ मनु ४।९२

सूर्योदयसे पूर्व ब्राह्म मुहूर्तमें प्रत्येक मानवके लिये निद्रा त्याग आवश्यक है। क्योंकि उस समय बुद्धि शुद्ध रहती है। अतएव उसी समय धर्मपालन, धन संग्रह, रोग-दोष निवारण, वेदशास्त्र चिन्तनकी ओर ध्यान देना उपयोगी है।

शय्यासे उठनेके समय कर-दर्शनकी प्रणाली है।

कराग्रे वसते लक्ष्मी कर मध्ये सरस्वती ।
करमूले स्थितो ब्रह्मा प्रभाते कर दर्शनम् ॥

अनन्तर भगवान्के चित्रदर्शन, श्रीविग्रहके दर्शन, गुरुदर्शन, या माङ्गलिक पदार्थोंके दर्शन परम उपादेय है। शय्या त्याग कर पृथ्वी पर चरण रखते समय—

समुद्रवसनेदेवि पर्वत स्तनमण्डले ।
विष्णु पत्नी नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे ॥

यह पृथ्वी-नमस्कारकी सुन्दर पद्धति है। जिसके अन्न, जलसे पुष्ट हुए हैं, आदि अन्तमें जिसने हमें आश्रय दिया है, उसको नमस्कार करना हमारा परमधर्म है।

पुरीषोत्सर्ग—

मूत्रोच्चार समुत्सर्गं दिवा कुर्यादुदङ्मुखः ।
दक्षिणाभिमुखो रात्रौ संध्ययोश्च तथा दिवा ॥ मनु ४५०

मूत्र और पुरीषोत्सर्ग दिनमें उत्तर दिशाकी ओर मुख करके तथा रात्रिमें दक्षिण दिशाकी ओर तथा दोनों संध्याओंमें उत्तर दिशाकी ओर मुख करके करना चाहिये। परन्तु आज यह व्यवस्था विशालकाय नगरोंमें विकृत हो चली है।

मृतिकाद्वारा हस्त-मार्जन गण्डूष प्रकार दन्त धावनकी व्यवस्था भी पाश्चात्य शिक्षासे अभिभूत है।

मूत्रोत्सर्ग—

न मूत्रं पथि कुर्वीत न भस्मनि न गोव्रजे।
न कालकृष्टे न जले न चित्यां न च पर्वते ॥
न जीर्णे देवायतने न वल्मीके कदाचन।
न सत्वेषु न गर्तेषु न गच्छन् नापिच स्थितः ॥
न नदी तीरमासाद्य न च पर्वतमस्तके।

मार्गमें, भस्मके ढेर पर, गोष्ठ, हलसे चलाये गये खेत, जल, पर्वत, जीर्णशीर्ण देवताके मन्दिर, बिल, जीवोंसे युक्त गड्ढे, चलते हुए, खड़े-खड़े, नदीके तीर पर मूत्र-त्याग वर्जनीय है।

स्नान—

स्वास्थ्यकी दृष्टिसे तथा शारीरिक स्वच्छताके हेतु यथावसर प्राप्त नदी, कूप, तड़ागके जलमें स्नान निर्धारित है। स्नान रहित मलिन वस्त्रधारी ठीक नहीं।

कुचेलिनं दन्तमलावधारिणम्।
बह्वाशिनं नित्य कठोर भाषिणम् ॥
सूर्योदये चास्तमयेच शायिनं।
विमुञ्चति श्रीरपिचक्रपाणिम् ॥

जिनके शरीरके वस्त्र मलिन हो रहे हैं, दांतोंपर मैल जमा है, बहुत अधिक भोजन करते हैं, कठोर वचन बोलते हैं, सूर्यके उदय और अस्तके समय शयन करते हैं, वे अत्यन्त दरिद्री होते हैं।

दीपनेबृष्यमायुष्यं स्नानमूर्जा बलप्रदम्।
कण्डू मलश्रम स्वेद तन्द्रातृड् दाह पाप्मजित् ॥

स्नानसे जठराग्निकी वृद्धि, शरीरकी पुष्टि, बलकी अधिकता और आयुकी दीर्घता प्राप्त होती है। दाद, खाज, थकावट, मल, पसीना, आलस्य, दाह, तृषा, दूर होते हैं। परमार्थ साधन एवं देवाराधनके प्रति रुचि होती है। स्नानके पश्चात् ही देवाराधनका महत्व है।

भोजन—

आयु सत्वबलारोग्यं सुख प्रीतिविवर्द्धनाः।
रस्यास्निग्धा स्थिराहृद्या आहारा सात्विकप्रिया ॥
कट्वम्ल लवणा त्युष्णतीक्ष्ण रूक्ष विदाहिनः।
आहाराराजसस्येष्टा दुःख शोकामयप्रदा ॥
यातयामंगतरसं पूति पर्युषितंच यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसः प्रियं ॥
गीता १७।८-१०

आयु जीवनकी पवित्रता, बल, आरोग्य, सुख, प्रेम का वर्द्धक, सरस चिकना, पुष्टिकारक, रुचिकारक आहार सात्विक है।

कड़वे, खट्टे, नमकीन, बहुत गरम, तीखे, रूखे हृदय दाहक आहार दुःखशोक रोग उत्पन्न करते हैं। ये राजस कहे जाते हैं।

एक प्रहरका रक्खा हुआ नीरस, दुर्गन्धि युक्त जूठा और अशुचि मासादि आहार तमोगुणी है।

तमोगुणी और रजोगुणी आहार श्रेयस्कामी पुरुषके लिये त्याज्य है।

महाभारतमें भोजनका समय भी निर्दिष्ट है।

सायंप्रातर्मनुष्याणामशनं देवनिर्मितम्।
नान्तरा भोजनं दृष्टमुपवासी तथा भवेत् ॥

प्रातःकाल और सायंकाल दो बार ही भोजन करना मनुष्योंके लिये देवताओं ने बनाया है। बीचके समय भोजन नहीं करना चाहिये, क्योंकि इसे "अग्निहोत्र समोविधि" कहा है।

शुद्ध जल सेवन—

निर्गन्धमव्यक्तरसं तृष्णाघ्नं शुचि शीतलम्।
अच्छलघु च हृद्यं च तोयं गुण बदुच्यते ॥

गन्धहीन, जिसमें किसी प्रकारका विशेष स्वाद न जान पड़े, प्यास नाशक, पवित्र, शीतल, अच्छा, हलका, प्रिय जल ही गुणकारी है।

भक्ष्याभक्ष्य अफीम, गाँजा, भाँग, चरस, बीड़ी, सिगरेट, मद्य, ताड़ी, चाय सबका निषेध है।

बुद्धिं लुम्पन्ति च द्रव्यं मदकारी तदुच्यते।

अन्य पालनीय आचार—

नाश्नीयात् भार्ययासार्धं न नैनामीक्षेत चाश्नतीम्।
युवतीं जृम्भमाणां वा न चासीनां-यथासुखम्॥
चाण्डालश्ववराहश्च कुक्कुटः श्वा तथैवच।
रजस्वला च षण्ढश्चनेक्षेरन्नश्नतोः द्विजान्॥
नाप्सुमूत्रं पुरीषं वा ष्ठीवनं वा समुत्सृजेत्।
अमेध्यलिप्तं यच्चान्यत् लोहितं वा विषाणि च॥
उपानहौ च वासश्च धृतमन्यैर्नधारयेत्।
उपवीतमलंकारं स्रजं करकमेव च॥
नकुर्वीत वृथा चेष्टां न वार्यञ्जलिनापिबेत्।
नोत्संगेभक्षयेत् भक्ष्योन्नजातुस्याकुतूहली॥
सोपानत्कश्चयद् भुंक्ते तद्राक्षसभुज्जते।
नाशिरश्चावृतमुखः, ननग्न स्नानमाचरेत्॥
नसंहताभ्यां पाणिभ्यां, कण्डूयेदात्मनः शिरः।
नस्पृशेच्चैतच्छिष्टो न च स्नायाद्विना ततः।
नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नास्तं यन्तं कदाचनः॥ मनु॥

सदाचार और मर्यादाकी रक्षाके हेतु अपनी स्त्री के साथ भोजन न करे, भोजन करती हुईको न देखे, जंभाई छींक लेते समय सहसा उसके पास न जाय, न सुख पूर्वक बैठी हुई के समीप भी। भोजन करते समय चाण्डाल, शूकर, कुक्कड़े (मुर्गे), कुत्ते, रजस्वला, नपुंसकको द्विजाः (ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य) न देखे। जलमें मूत्र, पुरीष, थूक, खून, विष, गन्दे द्रव्यसे सनी वस्तुको न डाले। दूसरेकी पहनी हुई जूती, दूसरेका धारण किया वस्त्र, यज्ञोपीत, आभूषण, माला, कमण्डल नहीं धारण करे। व्यर्थकी चेष्टाएँ न करे। अञ्जलिसे पानी न पिये। गोदमें रखकर भोजन न करे। न खाते समय खेलकूद ही करे। जो शिर ढक कर भोजन करता है, जो दक्षिणाभिमुख होकर भोजन करता है जो जूते पहनकर भोजन करता है, वह राक्षस रूपमें भोजन करता है। एक वस्त्रसे भोजन न करे, नग्न स्नान न करे, दोनों हाथोंसे शिर न खुजाए। उच्छिष्ट मुखसे किसीका स्पर्श न करे, रात्रिमें स्नान न करे उदयके समय और अस्तके समय सूर्यका दर्शन न करे। इस प्रकार बहुत विस्तार युक्त सदाचारके सम्बन्धमें लिखा है यहाँ उपयोगीका ही निर्देश किया गया है।

लोक व्यवहारमें सात्विक यज्ञ, पञ्चमहायज्ञ सात्विक दान "धृतिक्षमाऽमोऽस्तेय शौचमिन्द्रिय निग्रहः धीर्विद्या सत्यमक्रोध" का पालन भी परमावश्यक है। तथा उसे निम्नलिखित तपोंका अभ्यास करना चाहिये—

अनुद्वेग करं वाक्यं सत्यं प्रियहितं चयत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥
देवद्विज गुरुप्राज्ञ पूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा शारीरं तप उच्यते॥
मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥
श्रद्धया परयातप्तं तपस्त्रिविधं नरैः।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्विकं परिचक्ष्येते॥
सत्कार मान पूजार्थं तपोदम्भेन चैवयत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवं॥
मूढ ग्राहेणात्मनो यत्पीड़या क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदा हृतम्॥
(गीता १ ।१४-१९)

उद्वेगरहित सत्य-प्रिय, हितकारक, यथार्थ भाषण वेद-शास्त्रोंके स्वाध्याय युक्त परमेश्वरके नाम जपका अभ्यास वाणीका तप है।

देव, ब्राह्मण, गुरु (माता, पिता, आचार्य)ज्ञानीजनोंका पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य्य, अहिंसा शारीरिक तप है।

मनकी प्रसन्नता, शान्त-भाव, भगवत्-चिन्तन करनेका स्वभाव, मनका निग्रह, भावोंकी शुद्धि यह

मानस तप है। मानवका कर्त्तव्य है इनका अभ्यास करे, आचरण करे।

फलकी इच्छा न रखते हुए निष्कामी योगी पुरुषों-द्वारा परम श्रद्धासे किये गये पूर्वोक्त तीन प्रकारके तपको सात्त्विक कहते हैं; परन्तु सत्कार, मान, पूजाके लिये अथवा जो केवल पाखण्डसे ही किया जाता है क्षणिक फल वाला वह तप राजस कहलाता है। जो तप मूढ़तापूर्वक हठसे मन-वाणी-शरीरकी पीड़ाके सहित अथवा दूसरेका अनिष्ट करनेके लिये किया जाता है, वह तामस तप है। अतएव सात्त्विक तपका संग्रह ही हितकर है।

सदाचारीको काम, क्रोध, लोभका परित्याग भी करना अभीष्ट है; क्योंकि तीनों ही नरकके द्वार हैं।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभः तस्मादेतत्त्रयंत्यजेत्॥
एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो परांगतिम्॥
(गीता १६।२१-२२)

श्रेयस्कामी उठने एवं शयनका भी नियम पालन करे; क्योंकि उसकी उसमें भी उपेक्षा अभीष्ट नहीं—

अनापृष्टं दिवास्वप्नं तथाभ्युदित शायिता।
प्रगेनिशामाशु तथा येचोच्छिष्टा स्वपन्ति वै॥
(महाभारत)

दिवास्वप्नं न कुर्वीत यतोऽसौ स्यात्कफावह।
ग्रीष्म वर्ज्यर्तुकालेषु दिवास्वप्नो निषिध्यते॥
(आयुर्वेद)

स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौयेनानुपश्यति।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वाधीरो न शोचति॥
(कठोपनिषद्)

दिनमें सोनेसे और दिन चढ़ने तक सोनेसे आयुका नाश होता है। इसी प्रकारजो रात्रिके अन्तिम भाग में सोते हैं,उच्छिष्ट मुख,अपवित्र होकर सोते हैं,उनकी आयु भी क्षीण होती है।

दिनमें सोनेसे कफकी वृद्धि होती है। ग्रीष्मकाल-को छोड़कर दिनमें सोना निषिद्ध है।

निद्राके अन्तमें और जागृत अवस्थाके अन्तमें अर्थात् सोनेसे पहले महान् सर्वव्यापी परमात्मामें चित्त लगाकर उनकी ही स्तुति करते हुए उन्हींका दर्शन करते हुए जो शयन करते हैं, उन्हें किसी भी प्रकारका कष्ट नहीं होता।

अस्तु,एक युग था,जब सदाचार पालनकी महत्ता भारतके कोने-कोनेमें प्रचलित थी, सदाचार पालनकी पहली पाठशाला गृहस्थोंके गृह थे। वहाँसे उन्हें सदाचारी बना कर यज्ञोपवीतके अनन्तर गुरुकुलमें भेज दिया जाता था। वहाँ सर्वप्रथम उन्हें ब्रह्मचर्य पालनकी शिक्षा दी जाती थी, यह समझाया जाता था—"ब्रह्मचर्य्य प्रतिष्ठायां वीर्य लाभः" यहींसे बालक इन्द्रिय निग्रहका पाठ पढ़ता था, सद्ज्ञान, गुरुभक्ति, मानवोचित व्यवहार सीखता था, गुरु उसे ईश्वर विद्याकी प्राप्तिके साधन बताते थे। अन्तमें यह उपदेश देते थे—

सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्याय प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। देव पितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि। तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि। यान्यस्माकं सुचरितानि। तानि त्वयोपास्यानि। नो इतराणि।
(तैत्तिरीयोपनिषद्)

ब्रह्मचर्य्यके अनन्तर गुरुकी आज्ञासे वह विवाह करता था और गृहस्थ जीवनके सदाचारोंका नियमपूर्वक निर्वाह करता था, वानप्रस्थ और संन्यासकी अवस्थामें मानव उनके नियम पालनमें परायण होता था। उसी प्रकार लोक हितके ज्ञान, शौर्य, सेवा,

आदिकी पूर्णताके हेतु चातुर्वर्ण्यकी सृष्टि भगवान्‌ने स्वयं की और उनके सदाचार भी निर्धारित किये—

ब्राह्मण—

शमोदमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्म कर्म स्वभावजम् ॥

क्षत्रिय—

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रकर्म स्वभावजम् ॥

वैश्य—

कृषि गोरक्षवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।

शूद्र—

परिचर्य्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ।
(गीता १८।४२-४४)

अन्तःकरणका निग्रह, इन्द्रियोंका दमन, बाहरी, भीतरी शुद्धता, धर्मके लिये कष्ट सहन, क्षमाभाव-मन-इन्द्रिय-शरीरकी सरलता, आस्तिक बुद्धि, शास्त्र-विषयक ज्ञान, परम तत्त्वका अनुभव ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्म हैं।

शूरता, तेज, धैर्य, चतुरता, युद्धमें न भागना, दान, स्वामिभाव, सर्वहित, प्रजापालन, यह क्षत्रियका स्वाभाविक कर्म है।

खेती, गोपालन, क्रय विक्रयमें सत्यव्यवहार ये वैश्यके कर्म हैं। सेवा करना यह शूद्रका भी स्वाभाविक कर्म है।

स्वेस्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
(गीता)

अपने-अपने स्वाभाविक कर्ममें लगा मानव भगवत्प्राप्तिरूप परम सिद्धिको प्राप्त करता है।

इस प्रकार भारतमें सदाचारकी एक विशाल व्यवस्था थी। किन्तु बढ़ते हुए भौतिकवादने या विकासशील कहलाने वाले मानवने इसे शास्त्रज्ञों, मनीषियोंका प्रलाप समझ लिया। आज प्रातः उठनेसे लेकर रात्रिमें शयन करने तककी दैनिक सदाचारकी परम्पराओंकी मानव उपेक्षा कर बैठा है। क्योंकि उसे संसारके समक्ष विकासशील कहलाना है। भले ही उसका चरित्र सदाचार मानवोचित न रहकर पशुत्वके स्वरूपको धारण कर ले।

श्रेष्ठतम मानव कहलानेका अधिकार रखनेवाले भी प्रातः सूर्योदय-पूर्व ब्राह्ममुहूर्त्तमें निद्रात्याग करना ठीक नहीं समझते। इसलिये कि उनका अभ्यास ही बदल गया है। न पृथ्वीको माता मानकर वंदना करते हैं, न प्रभु दर्शनकी ओर अग्रसर होते हैं। भगवान्‌के स्मरणका तो रात्रि दिन कमाने एवं खानेके कुचक्रमें फँसे रहनेसे समय ही कहाँ है! शौचादि कार्यों एवं स्नानादि पर पूरा-पूरा पश्चमीय प्रभाव है। जहाँ स्नान पवित्रताका कारण था, वहाँ सफाई सौन्दर्य-वृद्धिका कारण रह गया है। भारतीय वेषभूषा घृणास्पद दिखाई देती है; क्योंकि वह असभ्य अविकाशी मानवोंका पहनावा है। उनकी दृष्टिमें पश्चिमीय साज-शृङ्गार वस्त्र ही सभ्यताके द्योतक हैं। कैसी विडम्बना है!!

भोजन अधिकांशमें तामसी राजसी ही सबको प्यारा लगने लगा है। बाजारोंमें यत्र-तत्र प्रसारित, अपवित्र स्थानमें रक्खा, अपवित्र हाथों द्वारा निर्मित, जूठा, सभीसे स्पर्श किया गया भोजन उपयोगी हो चला है। चलते-चलते खड़े होकर जूते पहनकर भोजन करनेकी प्रथा सभ्यता पूर्ण होगई है। अपेय पदार्थोंके लिये निषेधके नाम-मात्रके ही बने हुए हैं। सभी सभ्यताके उपासक इसका उपभोग कर अपने जीवनको धन्य मानते हैं। समझमें ही नहीं आता, दिनों दिन पशुके समान आचरण मानवको क्यों सुन्दर लगने लगे हैं?

अन्य पालनीय आचारोंकी कथा स्वप्नवत् हो गई है। न उनकी परम्परा ही रही, न ज्ञान ही रहा, न

उनके पालनका समय ही, येन-केन प्रकारेण जीवनमें अपना स्वार्थ सिद्ध कर लेना, अपने जीवनको भौतिक सुखोंकी प्राप्तिके अनुकूल बना लेना ही रह गया है। लोक व्यवहारमें भी पाखण्ड, अहंभाव, असत्य-भाषण, कामुकता, स्तेय, क्रोध, लोभ, मोह जैसे नारकीय दोष स्थान प्राप्तकर बैठे हैं।

आजके युगमें सबसे सभ्य मानव वही हैं, जो चतुराईसे अपने दोषोंको छिपा सकें या अत्यधिक दोष करके भी हृदयसे मलिन होकर भी बाह्य स्वच्छतासे अपनेको सभ्य सिद्ध कर सके।

पुरुषधर्म, नारीधर्म समाप्त प्राय है। मातृ-पितृ भ्रातृ पति-पत्नी मित्रताके सम्बन्ध विकृत हैं। पुरुष और स्त्रीसे देवी-देवका स्वरूप निकलकर प्रेमी-प्रेमिकाके स्वरूपने अधिकार कर लिया है। चारों आश्रम चारोंवर्णोंके नियमोंको अधिकांश मनुष्य जानते ही नहीं। न उन्हें जाननेकी इच्छा ही वह रखते हैं जिस सदाचारका सम्बन्ध दीर्घायु स्वस्थ जीवन प्राप्त करनेमें था। वह भी ध्यानमें नहीं लाया जाता। इसीसे दिनों दिन—

"मन्दाः सुमन्द मतयो मन्द भाग्या ह्युपद्रुताः" (भागवत) होते जा रहे हैं।

भगवान्‌का दर्शन, भगवान्‌का स्मरण, चिन्तन, कीर्तन अनुपादेय हो गया। सत्सङ्ग, सत्कथाओंके स्थान पर असत्सङ्ग, असत्कथाएँ चल पड़ी है। शास्त्रोंका स्थान गन्दे तिलस्मी जासूसी प्रेमपूर्ण उपन्यासोंने ग्रहण कर लिया है। क्या यह सबकुछ भारतके विकास का चिह्न है? क्या यही भारतीय आदर्श है? क्या यही आर्यों एवं श्रेष्ठ पुरुषोंके कर्तव्य हैं?

मानवने बहुत कुछ लुटा दिया। वह भीख मांगनेकी स्थितिमें आ गया। अब तो उसे मोहमयी निद्राका परित्यागकर अपने स्वरूपको प्राप्त करना है। अपने प्राचीन जीवनको, गौरवको प्राप्त करना है। संसारका अज्ञानके भौतिक अन्धकारसे हटाकर ज्ञानका प्रकाश देना है। भगवान्‌के अकुतोभय चरणारविन्दोंका आश्रय प्राप्तकर धन्य होना है। तथा।

वाणी गुणानुकथने श्रवणौ कथायां।
हस्तौच कर्मसु मनस्तव पादयोर्नः॥
स्मृत्यां शिरस्तव निवास जगत्प्रणामे।
दृष्टिः सतां दर्शनेस्तु भवत्तनूनाम्॥
(भागवत)

—की भावना अकिंचन प्रणत होकर करुणा वरुणालयसे मांगनी है। तभी हमारी स्वस्वरूप-स्थिति एवं सदाचारिता है।

—बागरोदी कृष्णचन्द्र शास्त्री, साहित्याचार्य, काव्यतीर्थ, साहित्यरत्न

———